भारतीय दार्शनिक समस्याएं

डॉ० नन्दकिशोर शर्मा
दर्शन विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

प्राक्कथन

हिन्दी ग्रन्थ अकादमी अपने जीवन काल के 10 वर्ष पूरे कर चुकी है। 15 जुलाई, 1983 को इस संस्था ने ग्यारहवें वर्ष मे प्रवेश किया है। इस अल्पावधि में संस्था ने विभिन्न विषयो के लगभग 300 मानक ग्रन्थो का हिन्दी मे प्रकाशन कर मातृभाषा के माध्यम मे विश्वविद्यालय के छात्रों व विषय विशेष के पाठको के समक्ष भाषा वैविध्यता की कठिनाई दूर करने मे अपना अकिंचन योगदान दिया है।

अकादमी के कई प्रकाशन द्वितीय व तृतीय आवृत्तियो मे छप चुके हैं। इसके लिये हम सुयोग्य पाठको व लेखको के अत्यन्त ऋणी है।

प्रकाशन जगत में मानक ग्रन्थों का कम मूल्य पर प्रकाशन एक ऐसा प्रयत्न है जिससे विश्वविद्यालय स्तर एवं विषय विशेष के विशेषज्ञो के ग्रंथ आसानी से हिन्दी मे उपलब्ध हो सकें। प्रयत्न यह रहा है कि अकादमी शोध ग्रन्थो का प्रकाशन अधिकाधिक करे। इससे लेखक एव पाठक दोनो ही लाभान्वित हो सकें तथा प्रामाणिक विषय वस्तु पाठको को सुलभ होती रहे। लेखक को भी नव सृजन के लिए उत्साह व प्रेरणा मिलती रहे जिसमे प्रकाशन के अभाव मे महत्वपूर्ण पाडुलिपियां अप्रकाशित ही नही रह जायें। वास्तव मे हिन्दी ग्रन्थ अकादमी इसे अपना उत्तरदायित्व समझती रही है कि दुर्लभ विषय ग्रन्थो का ही प्रकाशन किया जाय। हमे यह कहते गर्व होता है कि अकादमी द्वारा प्रकाशित कतिपय ग्रन्थ केन्द्र एवं अन्य राज्यों के बोर्ड व संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत किये गये हैं और इनके विद्वान् लेखक सम्मानित हुए हैं।

भारत सरकार के शिक्षा मत्रालय की अनुप्रेरणा व सहयोग हिन्दी ग्रन्थ अकादमी को स्वरूप ग्रहण करने से लेकर योजनाबद्ध प्रकाशन कार्य मे अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। राज्य सरकार ने इस अकादमी को आरम्भ से ही पूरा-पूरा सहयोग देकर पल्लवित किया है।

अकादमी अपने भावी कार्यक्रमो मे राजस्थान से सम्बन्धित दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशन कार्य को प्रमुखता देने जा रही है जिससे विलुप्त कड़ियां जुड सकें। यह भी प्रयत्न है कि तकनीकी एवं आधुनिकतम विषय वस्तु के ग्रन्थ योजनाबद्ध प्रकाशित हों जिससे सम्पूर्ण विषय वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने मे छात्रों को किसी तरह का अभाव अनुभव नहीं हो।

भारतीय दर्शन को अतीत के अध्ययन के रूप मे देखने की धारणा बद्धमूल हो चुकी है, जो कि अनुचित है। वैसे तो विचारमात्र ही कभी विगत और मृत नहीं होता, किन्तु प्राचीन भारतीय दर्शन तो इस दृष्टि से भी वर्तमान और जीवत है कि हमारे देश के कोटि-कोटि जन के मानस मे वही भावधारा आज भी प्रवाहित हो रही है जो शताब्दियों पहले प्रवाहित हो रही थी। इस प्रकार यह एक जीवित परम्परा है। इसके अतिरिक्त, शताब्दियो पूर्व भारतीय दार्शनिकों ने जो दार्शनिक प्रश्न उठाये थे वे इतने अर्थ-विपुल हैं कि उन पर अभी आगे शताब्दियो तक और विचार किया जा सकता है। इसलिए इस दर्शन-परम्परा को जीवित परम्परा के रूप मे देखने, विचारने की आवश्यकता है। यह पुस्तक इस दिशा मे ही एक प्रयत्न है। इसलिए हमे पूर्ण आशा है कि इसका स्वागत होगा।

इस पुस्तक के समीक्षक डॉ० राजाराम द्राविड़, तथा भाषा सम्पादक डॉ० हरिकृष्ण पुरोहित, के प्रति अकादमी अपना आभार प्रदर्शित करती है। पुस्तक की प्रथमावृत्ति प्रकाशित कराने में सुविज्ञ पाठको का ही सर्वाधिक योगदान रहा है, वे नि.संदेह बधाई के पात्र हैं।

शिवचरण माथुर
मुख्य मन्त्री, राजस्थान सरकार
एव
अध्यक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

(डॉ०) पुरुषोत्तम नागर
निदेशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

भूमिका

प्रत्येक देश तथा जाति का दर्शन उसकी संस्कृति के मनुसार विकसित होता है भोर संस्कृति-सापेक्ष होने के कारण वह अपनी विशिष्टता भी रखता है। भारतीय दर्शन भी इस दृष्टि से अपनी विशिष्टता रखता है। लगभग सभी भारतीय दार्शनिक स्वीकार करते हैं कि समस्त मानव-क्रिया सप्रयोजन होती है तथा बिना प्रयोजन के मनुष्य किसी भी क्रिया मे प्रवृत्त नहीं होता। दार्शनिक चिंतन भी इस सामान्य नियम का अपवाद नही है। मानव के समस्त प्रयोजन चार मुख्य भागों में विभाजित किये गये हैं, जिन्हें पुरुषार्थ कहा जाता है तथा कोई भी कार्य इन चारों में से किसी एक या इससे अधिक का पूरक होना चाहिए। जो कार्य इन चारो में से किसी भी प्रयोजन का प्रत्यक्ष या गौण रूप से साधक न हो, व्यर्थ माना जाता है।

तब प्रश्न है, दार्शनिक चिंतन इन चारों में से किस पुरुषार्थ का साधक है? यह सामान्य धारणा है कि भारतीय दर्शन आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर उन्मुख है। प्रायः सभी प्राचीन भारतीय दार्शनिक अपनी रचना के आरम्भ में इस आध्यात्मिक लक्ष्योन्मुखता को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करते भी हैं। किन्तु साथ में वे इस बात पर भी बल देते हैं कि यह आध्यात्मिक लक्ष्य बौद्धिक विश्वास नहीं है, वह साक्षात् अनुभूति है जो बुद्धि, मन आदि से परे है। अतः स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि तब यह बौद्धिक चिंतन किस प्रकार उपर्युक्त लक्ष्य का साधक है?

कुछ विद्वानों का मत है कि भारतीय दार्शनिकों की यह स्वीकृति एक परम्परा मात्र है तथा ध्यान से अवलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके इस दावे में, कि उनकी रचना चतुर्थ पुरुषार्थ, मोक्ष की साधक है, कोई बल नही है और ग्रन्थ में जो कुछ चिंतन-मनन हुआ है, उससे इस कथन की कोई संगति नही है। उनकी मान्यता है कि प्रारम्भ में इस प्रकार का परम्परा-निर्वाह करने के बाद दार्शनिक लोग स्वतंत्र दार्शनिक चिंतन मे प्रवृत्त हो जाते हैं और मोक्ष की बात भूल जाते हैं। इस प्रकार भारतीय दर्शन भी एक स्वतन्त्र बौद्धिक प्रक्रिया है जो किसी बन्धन विशेष में आबद्ध हो अपने आपको सीमित नहीं करती। उसका क्षेत्र वैसा ही व्यापक तथा स्वतन्त्र रहा है जैसा अन्य किसी भी पाश्चात्य दर्शन का।

किन्तु भारतीय दर्शन का गम्भीर चिंतन इस मत की सर्वथा पुष्टि नहीं करता। कुछ ग्रन्थ ऐसे अवश्य हैं जो किसी शुद्ध दार्शनिक समस्या पर ही अपना ध्यान केन्द्रित

करते हैं तथापि भारतीय दार्शनिक वाङ्मय का पर्याप्त भाग अन्यान्य दार्शनिक समस्याओं का विमर्श करते हुए भी अपने केन्द्र-बिन्दु से किसी न किसी प्रकार सम्बन्ध जोड़े हुए भी स्पष्ट प्रतीत होता है।

अतः इस मत के विपरीत कुछ विद्वान मानते हैं कि दार्शनिक चिंतन का उच्चतम पुरुषार्थ से बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। यद्यपि यह बात सही है कि मोक्ष कोई बौद्धिक उपलब्धि नही है तथापि मोक्ष-प्राप्ति में साधन रूप से बुद्धि का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। अपनी पूर्ण शक्ति से साधन के लिए प्रथम शर्त अपने उद्देश्य तथा साधन में अटूट श्रद्धा तथा विश्वास है।

विभिन्न भारतीय दर्शनो का अवलोकन करने से पता लगता है कि प्रत्येक भारतीय दर्शन के पीछे एक दृष्टि है तथा उस दर्शन का कार्य उस दृष्टि को तार्किक आधार देने का है। यदि हम भारतीय दर्शन के इतिहास पर ध्यान दें तो पता लगेगा कि ऐसा नही है कि भारतीय दर्शन का विकास नही हुआ हो अथवा भारतीय चितकों ने अपनी प्राचीन मान्यताएँ नही बदली हो। किंतु यह समस्त विकास अथवा परिवर्तन उनकी मूल दृष्टि के अन्तर्गत ही हुआ है। किसी भी दर्शन ने अपनी मूल दृष्टि को कभी भी नही छोड़ा तथा जो भी परिवर्तन उस क्षेत्र मे विकास के रूप में परिलक्षित होता है वह उस दृष्टि के अन्तर्गत ही उस दृष्टि को अधिक सुसंगत तथा अधिक ठोस आधार प्रदान करने के लिए है। यदि यह बात हम स्वीकार कर लें तो यह स्पष्ट रूप से फलित होता दिखाई देगा कि भारतीय दर्शन मे दार्शनिक दृष्टि का अधिक महत्त्व है। सत्य ग्रहण करने के लिए यह मुख्य साधन है। तर्क इसकी पुष्टि करता है, इसे मिथ्या सिद्ध नही कर सकता।

तब यह प्रश्न उठता है कि इस दृष्टि का स्रोत क्या है तथा जहाँ विभिन्न दृष्टियों का आपस में विरोध हो, वहाँ किस आधार पर किसी दृष्टि को स्वीकार अथवा अस्वीकार किया जाय ? कई लोगो ने आध्यात्मिक भूमि के स्तर-भेद के आधार पर दार्शनिक दृष्टि के मूल्यांकन का प्रस्ताव किया है। उदाहरण के लिए उनका कहना है कि साधना में रत साधक पहले द्वैत की भूमि पर आरूढ होता है, उसके पश्चात् *वह द्वैताद्वैत की भूमि में प्रवेश करता हुआ अद्वैत की स्थिति पर पहुँचता है।* यह स्थिति साधना की चरम स्थिति तथा उसकी अन्तिम परिणिति है। इसीलिए वे विभिन्न दर्शनों को विभिन्न स्तर की आध्यात्मिक उपलब्धि से उत्पन्न मानते हैं तथा इस प्रकार द्वैताद्वैत को द्वैत से उच्च तथा अद्वैत को सर्वोच्च दर्शन स्वीकार करते हैं। इस मत के विरुद्ध सबसे मुख्य आपत्ति यह की जा सकती है कि यदि यह बात सत्य होती तो अधिकांश दार्शनिक, विशेष रूप से वे जो अत्यन्त उच्च कोटि के साधक भी थे, पहले द्वैत मत का प्रतिपादन करते, फिर उनके दर्शन का विकास अपनी साधना की उन्नति के अनुसार, द्वैताद्वैत दर्शन का प्रतिपादन करते हुए अन्त में अद्वैत दर्शन

की ओर हाता । किन्तु हम देखते हैं कि निरन्तर साधना में रत रहते हुए भी श्री मध्वाचार्य ने अपना द्वैतवाद नही छोड़ा और न ही निम्बार्क ने अपना द्वैताद्वैत।

वास्तव में भारतीय दार्शनिक अपनी मूल दृष्टि को प्राग् अनुभविक स्वीकार करते हुए भी उसकी युक्ति-युक्तता स्वीकार करते हैं। दर्शन की उत्पत्ति यद्यपि बौद्धिक चिंतन में नही होती तथापि उसका युक्तियुक्त तथा तर्कसंगत होना आवश्यक है। यदि कोई दर्शन आत्मविरोधी सिद्धांतों से भरा हो तो वह उस दर्शन की बहुत बड़ी कमी मानी जाती है और जैसा कि हम कह चुके हैं, भारतीय दर्शन का एक मुख्य प्रयोजन अपनी उस दृष्टि को तार्किक आधार प्रदान करना है। वास्तव में यह बात किसी न किसी अर्थ में सभी दर्शनों पर लागू होती है। दर्शन चाहे आध्यात्मिक दृष्टिकोण लिये हुए हो अथवा भौतिक, निश्चित रूप से उसका आधार कोई एक मूल दृष्टि ही होती है तथा दार्शनिक उस दृष्टि को ही तार्किक दृष्टि से पुष्ट करने का प्रयास करता है। केवल तर्क अथवा युक्ति के आधार पर कोई भी दर्शन नहीं टिक सकता।

दार्शनिक दृष्टि पूर्णरूपेण निरपेक्ष नही होती, यह सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के कारण विभिन्न देशों तथा कालो में अपनी भिन्नता लिये हुए होती है। चूँकि भारतीय संस्कृति मूलतः आध्यात्मप्रधान रही है, उसने यहाँ के दार्शनिक दृष्टिकोण को भी अवश्य ही प्रभावित किया है तथा यहाँ के अधिकांश दर्शनों का दृष्टिकोण भौतिक कम तथा आध्यात्मिक अधिक रहा है।

जब कोई दर्शन अपनी दार्शनिक दृष्टि का तार्किक प्रसार करता है और विशेष रूप से जब वह अपने दर्शन पर अन्य दर्शनों को दृष्टिगत रखते हुए विचार करता है तब अनेक दार्शनिक अथवा तार्किक प्रश्न व उलझनें उसके सम्मुख आ उपस्थित होती हैं और जब वह बुद्धि के आधार पर ही उन समस्याओं का समाधान खोजने का प्रयास करता है तब शुद्ध दार्शनिक प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। भारत मे भी यही हुआ। जो दर्शन किसी दृष्टि विशेष से प्रारम्भ हुआ था, कालान्तर मे अन्य दर्शनों की क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उसकी परिणति शुद्ध चिंतन मे हो गई। बौद्ध, जैन, वेदांत, सांख्य, मीमांसा, न्याय आदि दर्शनों का इतिहास इस मत को पुष्ट करता है। इस तथ्य को ध्यान में रखने पर हमारी उस समस्या के समाधान में भी सहायता मिलती है जिसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। अपनी-अपनी दृष्टि से दोनों ही मत ठीक हैं। जहाँ उद्गम तथा मूल दृष्टि के अनुसार भारतीय दर्शन आध्यात्मिक है, अपने विकसित रूप में, उसमें शुद्ध चिंतन का भी अभाव नहीं है। इस प्रकार अपने विकसित रूप में भारत मे दार्शनिक चिंतन लगभग उसी स्तर का पाया जाता है जैसा कि किसी अन्य दर्शन में। बौद्धिक चिंतन मानव का सार्वभौम लक्षण है तथा इसीलिए एक अर्थ में समस्त दर्शन एक हैं।

तथापि समस्त दर्शनों का एक सार्वभौम रूप होते हुए भी प्रत्येक दर्शन की अपनी विशिष्टता भी होती है। सामान्यतया मात्र इस विश्वास को कि भारतीय दर्शन की यह विशेषता उसकी आध्यात्मिक दृष्टि में है, स्वीकार नहीं किया जा सकता। पश्चिम में भी कई ऐसे दार्शनिक हुए हैं जिनके दर्शन पर धर्म का बहुत प्रभाव था। समस्त मध्यकालीन पाश्चात्य दर्शन तो धर्म-दर्शन है ही, देकार्त, स्पिनोज़ा, लिब्निज, लॉक, बर्कले, कांट, हेगल आदि आधुनिक दार्शनिकों की दृष्टि भी धर्म से बहुत अधिक प्रभावित रही है।

अतः यदि भारतीय दर्शन की मौलिकता खोजनी है, तब हमें पहले उन प्रश्नों को खोज निकालना होगा, जो अन्य दर्शनों में नहीं उठाए गये तथा उन समाधानों को भी प्रकाश में लाना होगा जो अन्य दर्शनों से सर्वथा भिन्न हैं। अभी तक भारतीय दर्शन के तुलनात्मक अध्येताओं ने भारतीय दर्शन की अन्य दर्शनों से समानता पर ही विशेष बल दिया है।

अभी तक सामान्यतया भारतीय दर्शन के लेखकों ने इन दर्शनों का ऐतिहासिक अध्ययन ही किया है। विभिन्न प्रमुख दार्शनिक समस्याओं को चुन कर उनके तार्किक अथवा ऐतिहासिक विकास पर विद्वानों का विशेष ध्यान नहीं गया। भारतीय दर्शन समस्यामूलक नहीं हो सो बात नहीं है। वस्तुतः कोई भी दर्शन बिना समस्याओं को उठाये तथा उसका समाधान खोजे विकसित हो ही नहीं सकता। भारतीय दर्शन के ग्रन्थों के अनेक अध्याय महत्त्वपूर्ण समस्याओं के विश्लेषण तथा उन विषयों पर अन्य दार्शनिकों के खण्डन-मण्डन से भरे पड़े हैं। इतना ही नहीं, कई ग्रन्थ केवल किसी विशेष समस्या पर विचारार्थ ही रचे गये हैं।

भारतीय विश्वविद्यालयों में भी प्रायः भारतीय दर्शन का अध्ययन-अध्यापन विभिन्न दर्शनों के इतिहास के रूप में ही होता रहा है। किंतु राजस्थान विश्वविद्यालय में, विशेष रूप से डॉ० दयाकृष्ण की प्रेरणा से, यह निर्णय लिया गया है कि उच्च स्तर पर भारतीय दर्शन का अध्ययन समस्यामूलक होना चाहिए। इसी निर्णय के अनुसार यहाँ का पाठ्यक्रम परिवर्तित किया गया तथा इस प्रकार यहाँ स्नातकोत्तर कक्षाओं में कुछ प्रमुख दार्शनिक समस्याओं का अध्ययन प्रारम्भ हुआ।

चूँकि समस्यामूलक लेखन भारतीय दर्शन में बहुत कम उपलब्ध है तथा हिन्दी भाषा में तो इसका नितांत अभाव है, राजस्थान विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग की प्रेरणा से कुछ प्रमुख समस्याओं पर हिन्दी में लिखने का दायित्व मुझे सौंपा गया तथा हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर ने इसे प्रकाशित करना स्वीकार किया।

प्रस्तुत पुस्तक में चार समस्याएँ ली गई हैं। 'ज्ञान का स्वरूप', 'प्रमा का स्वरूप', तथा 'प्रामाण्यवाद' भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ हैं तथा इन समस्याओं पर भारतीय दार्शनिकों का विचार करने का अपना विशेष ढंग भी है। इसी प्रकार कार्य-कारण की समस्या भी भारतीय दर्शन में अपनी विशेषता लिये हुए है। जिस प्रकार से यह प्रश्न भारतीय दर्शन में उठाया गया है उस प्रकार यह अन्य दर्शनों में नहीं उठाया गया। यद्यपि भारतीय दर्शन तथा पाश्चात्य दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन इस पुस्तक का उद्देश्य नहीं है, दोनों दर्शनों से परिचित व्यक्ति भारतीय दृष्टि की अन्य दर्शनों से इस भिन्नता को सहज ही समझ सकता है।

उपर्युक्त समस्याओं पर विचार करते समय विचारकों के कालक्रम का ध्यान नहीं रखकर तार्किक दृष्टि से ही विचार किया गया है। पहले, समस्या क्या है इसको स्पष्ट कर फिर सरलतम समाधान से प्रारम्भ करते हुए तथा इसकी कठिनाइयों पर प्रकाश डालते हुए अन्य विकल्पों का आलोचनात्मक अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। समस्याओं पर पूर्णरूपेण भारतीय संदर्भ में ही विचार किया गया है। पुस्तक विभिन्न भारतीय दार्शनिकों के विचारों का संग्रह मात्र नहीं है। लेखक ने समस्याओं पर विभिन्न भारतीय दार्शनिकों के मत को अपनी ओर से प्रस्तुत कर उनका विश्लेषण करने का प्रयास किया है तथा अपनी ओर से उन पर आलोचनात्मक टिप्पणियाँ दी हैं।

मेरा ऐसा विचार है कि जिस प्रकार पाश्चात्य दर्शन पर विचार करते समय हम भारतीय अथवा अन्य दर्शनों का उपयोग नहीं करते उसी प्रकार भारतीय दर्शन भी स्वयं में इतना प्रबुद्ध है कि उसमें उठाये गए प्रश्नों पर विचार करते समय हमें किसी अन्य दर्शन से कुछ उधार लेने की आवश्यकता नहीं है। भारतीय दार्शनिक संदर्भ में ही पूर्ण एवं पर्याप्त रूप से समस्याओं के समाधान का प्रयास किया जा सकता है। साथ ही यदि हम अपना प्रयास भारतीय दार्शनिकों द्वारा प्रदत्त खण्डन-मण्डन के संग्रह तक ही सीमित रखें तब भी भारतीय दर्शन का विकास सम्भव नहीं है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय चिंतकों ने समस्या को जिस प्रकार प्रस्तुत किया है तथा जिस प्रकार उसका समाधान करने का प्रयास किया है उसे आधार बना कर, फिर उसी संदर्भ में अपनी सूझबूझ से उस समस्या का विश्लेषण कर, उस पर अब तक जो विचार हुआ है उसकी आलोचनात्मक समीक्षा करते हुए अपना मत प्रकट किया जाय। भारतीय दर्शन में अब तक जो कुछ खण्डन-मण्डन हुआ है वहीं तक सीमित रहने से दर्शन का विकास अवरुद्ध होगा एवं पाश्चात्य दर्शन की भाषा में इसे समझने से तो इसका रूप ही विकृत हो जायगा।

यह पुस्तक विशेष रूप से विद्यार्थियों के लिए लिखी गई है। भारतीय दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में विभिन्न समस्याओं पर किस प्रकार विचार किया गया है इसका उदाहरण

रामानुज ज्ञान की इस प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत कर समझते है कि सांख्य, न्याय आदि दर्शन में आत्मा को विभुरूप मानने से जो एक विशेष कठिनाई उत्पन्न हो जाती है उससे, वे मुक्त हो जाते हैं। रामानुज ने श्री भाष्य मे सांख्य की आलोचना करते हुए लिखा है कि यदि आत्मा विभुरूप है तो उसका समस्त प्रकृति तथा अन्य सभी पुरुषों से भी आवश्यक रूप से संयोग होगा तथा तब उसे निश्चित रूप से सदैव ही सर्वज्ञता की स्थिति प्राप्त होगी। इसीलिए रामानुज आत्मा को अणुरूप स्वीकार करना अधिक युक्तियुक्त मानते हैं। किन्तु ज्ञान को आत्मा का स्वरूप तथा विशेषण दोनों ही स्वीकार कर उन्होने एक विरोधाभास को ही जन्म दिया है। यह विरोधाभास तभी दूर हो सकता है जब वे ज्ञान को दो विभिन्न अर्थों में समझें, उदाहरण के लिए, शुद्ध चैतन्य को आत्मा का स्वरूप तथा नाम-रूप युक्त विशिष्ट चैतन्य को उसका गुण स्वीकार करें, किन्तु इस प्रकार की व्याख्या उनके समस्त दर्शन को ही ध्वस्त कर देगी।

जैन दार्शनिक भी चेतना अथवा ज्ञान को जीव का गुण ही मानते हैं किन्तु उनकी दृष्टि मे गुण का वही अर्थ नही है जो न्याय-वैशेषिक दार्शनिक मानते हैं। न्याय-वैशेषिक दार्शनिक द्रव्य तथा गुण को भिन्न-भिन्न पदार्थ स्वीकार करते हैं। ये दोनो भिन्न-भिन्न प्रकार की सत्ताएँ हैं जो समवाय-सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं। जैन दार्शनिक प्रायः न तो द्रव्य और गुण का भेद ही स्वीकार करते हैं और न इस अर्थ में इन दोनो को समवाय द्वारा सम्बन्धित ही मानते हैं। जैन दार्शनिक द्रव्य के दो प्रकार के विशेषण स्वीकार करते हैं जिन्हें वे गुण तथा पर्याय कहते हैं। गुण तथा पर्याय मे क्या भेद है तथा इनमे क्या सम्बन्ध है, इस विषय को लेकर जैन दार्शनिकों में मतैक्य नही है। सिद्धसेन दिवाकर, हरिभद्र, हेमचन्द्र यशोविजय इस विषय पर अभेदवाद को मान्यता देते हैं। उनका कहना है कि गुण तथा पर्याय वास्तव मे एक ही प्रकार के विशेषण हैं तथा इनमे नाममात्र का भेद है। किन्तु कुन्दकुन्दाचार्य, उमास्वामी, पूज्यपाद, विद्यानन्द आदि गुण तथा पर्याय मे भेद स्वीकार करते हैं। कुन्दकुन्द का कथन है कि "हमारे ज्ञान के विषय द्रव्य होते हैं जो गुणों से विशेषित तथा पुनः पर्याय से सम्बन्धित होते हैं।"[1] गुण सहभावी होते हैं तथा पर्याय क्रमभावी, गुण अपरिवर्तित रहते हैं जबकि पर्याय बदलते रहते है। इस प्रकार गुण द्रव्य के आंतरिक विशेषण हैं जबकि पर्याय उसके बाह्य विशेषण माने जा सकते हैं। तीसरा मत भेदाभेद का है जिसको मानने वाले अकलंक तथा वादिदेव आदि हैं। इनके अनुसार गुण द्रव्य मे कालाभेदापेक्षया स्थित होते हैं जबकि पर्याय कालविभेदापेक्षया। किन्तु, दोनों ही धर्म्यपेक्षया होने से अभेदता भी रखते हैं।

1. प्रवचन सार, अध्याय 2।

प्रस्तुत प्रसंग में प्रश्न यह है कि जैन दार्शनिक जब ज्ञान को जीव अथवा आत्मा का गुण मानते हैं तो उनके कहने का क्या आशय है ? निश्चित ही उनका वह आशय नहीं है जो अद्वैत वेदान्त तथा सांख्य आदि का है। इनकी भांति वे द्रव्य और गुण में और इसलिए जीव तथा ज्ञान में पूर्ण अभेद नहीं मानते। और न ही वे नैयायिकों की भांति इन दोनों में पूर्ण भेद ही स्वीकार करते हैं। इस विषय में वे भेदाभेद को ही आदर देते हैं। अतः इस प्रकार जैन मत की अन्य मतों से भिन्नता स्पष्ट समझनी चाहिए।

साथ ही, यदि गुण तथा पर्याय को लेकर हम भेद अथवा भेदाभेद मत को आदर दें तो जैन दार्शनिक ज्ञान को जीव का गुण ही कहना पसन्द करते हैं पर्याय नहीं। वे ज्ञान को जीव से आवश्यक रूप से सम्बन्धित मानते हैं आकस्मिक रूप से नहीं, इनका संबन्ध अयुतसिद्ध है। ज्ञान का पूर्णतः अभाव जीव में कभी भी नहीं होता यद्यपि उसमें न्यूनाधिकता कर्म के आवरण के अनुसार होती रहती है।

किन्तु यहाँ पर जैन दर्शन में एक अन्य मुख्य प्रश्न उत्पन्न होता है। जैन दार्शनिक रामानुज की भांति अथवा न्याय-वैशेषिक की भाँति द्रव्य तथा गुण में भेद स्वीकार नहीं करते और न ही अद्वैत वेदान्त की भांति हमारे सामान्य व्यावहारिक ज्ञान को वे विवर्त अथवा मिथ्या स्वीकार करते हैं। ऐसी अवस्था में उनसे पूछा जा सकता है कि यदि जीव के इस ज्ञान में कर्म-बन्धन के कारण न्यूनाधिकता है तब जीव का यह ज्ञान बदलते रहने के कारण ज्ञान को जीव का पर्याय ही कहना अधिक उपयुक्त होगा, गुण नहीं। ऊपर हम गुण तथा पर्याय का भेद स्पष्ट कर चुके हैं। गुण अपरिवर्तित होता है पर्याय परिवर्तनशील। गुण में काल-क्रमिकता नहीं होती, पर्याय में काल-क्रमिकता होती है। चूँकि जीव के ज्ञान में सदैव परिवर्तन होता रहता है, उसका ज्ञान सदैव एक-सा नहीं रहता। अतः उसे जीव का पर्याय ही माना जाना चाहिए, गुण नहीं।

इसका उत्तर जैन दार्शनिक यह कह कर दे सकते हैं कि कर्म-पुद्गल जीव पर बाह्य आवरण है तथा वे उसके स्वरूप को, पूर्ण ज्ञान भी जिनमें से एक है, कदापि नहीं बदल सकते। किन्तु ऐसी अवस्था में यहाँ एक ऐसा द्वैत उत्पन्न हो जायगा जिसे सँभालना जैन दार्शनिकों के लिए कठिन समस्या हो जायेगी। क्या वे सर्वज्ञ जीव तथा अल्पज्ञ जीव दोनों को एकसाथ सत् मानेंगे या एक को सत् तथा दूसरे को असत् ? दोनों ही स्थितियाँ उनको मान्य नहीं हो सकती। प्रथम अवस्था में एक ही वस्तु दो विरोधी अवस्थाओं में एक-साथ सत् कैसे मानी जा सकती है, तथा दूसरी में, जैन दर्शन अपने विरोधी दर्शन अद्वैत वेदान्त के समकक्ष हो जाएगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ तक जैन दार्शनिक जीव की ऐतिहासिक संसार-यात्रा तथा उसमें उत्पन्न हुए ज्ञान को वास्तविक स्वीकार कर उसे

जीव का अनिवार्य गुण ही स्वीकार करते हैं वहाँ तक वे ज्ञान को जीव का अनिवार्य गुण नहीं मान सकते। उन्हें इसे उसका पर्याय ही स्वीकार करना होगा। यह कहना कि ज्ञान-विशेष जीव का अनिवार्य गुण न होते हुए भी सामान्य रूप से जीव में सदैव रहता ही है, उसका तो उसमें कभी अभाव नहीं होता और इस कारण ज्ञान जीव का अनिवार्य गुण माना जा सकता है, कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। इसका अर्थ होगा कि ज्ञान-विशेष जीव का पर्याय है किन्तु वही ज्ञान सामान्य रूप से उसका गुण है। चूंकि जैन दर्शन सामान्य की विशेष से स्वतंत्र सत्ता नहीं मानता, उनका उपरोक्त कथन विरोध उत्पन्न करता है। एक ही वस्तु (ज्ञान) एक-साथ गुण तथा पर्याय दोनों नहीं मानी जा सकती।

भाट्ट दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान आत्मा की क्रिया है, गुण नहीं। सुचरित मिश्र हमारे सामान्य ज्ञान के आधार पर ज्ञान को क्रिया के रूप में स्थापित करने का प्रयास करते हैं। जब मैं कहता हूं कि मैं जानता हूं, तो यह कथन इस बात को स्पष्ट प्रमाणित करता है कि जानना एक क्रिया है जिसका कर्त्ता आत्मा तथा विषय कर्म है। कुमारिल ने ज्ञान को आत्मा का धर्म भी कहा है, किन्तु यहां पर धर्म को उन्होंने अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया है, 'गुण के अर्थ में संकुचित रूप से नहीं। धर्म से उनका आशय सामान्य विशेषण से है तथा ज्ञान-क्रिया भी आत्मा का इस प्रकार का सामान्य विशेषण है। पार्थसारथी ने ज्ञान को आत्मा की सकर्मक क्रिया माना है[5] जो विषय में उसी प्रकार फल उत्पन्न करती है जिस प्रकार पकाना चावलों मे पाकता का फल उत्पन्न करता है। भाट्ट दार्शनिकों की मान्यता है कि अज्ञात विषय ज्ञात विषय से उसी प्रकार भिन्न होते हैं जिस प्रकार पके हुए चावल बिना पकाए हुए चावलों से भिन्न होते हैं। पाक क्रिया चावलों में 'पकाए हुए' का नया गुण उत्पन्न कर देती है, उसी प्रकार ज्ञान-क्रिया भी अज्ञात विषय मे ज्ञातता का गुण उत्पन्न कर देती है तथा इस प्रकार वह विषय जो पहले अज्ञात था अब ज्ञात विषय हो जाता है। यदि ज्ञात विषय में ज्ञातता का यह नया गुण स्वीकार न करें तब ज्ञात विषय तथा अज्ञात विषय में कोई अन्तर नहीं रह जाएगा तथा अज्ञात विषय भी ज्ञात विषय बन जाएगा। किन्तु किसी वस्तु में कोई नया गुण बिना क्रिया के उत्पन्न नहीं किया जा सकता अतः अज्ञात विषय में ज्ञातता के गुण को उत्पन्न करने के लिए ज्ञान को क्रिया मानना आवश्यक है।

भाट्ट दार्शनिकों का कहना है कि ज्ञान आत्मा का गुण नहीं हो सकता। गुण किसी भी वस्तु का अकर्मक विशेषण होता है अतः वह विषय से सम्बन्धित फल की प्राप्ति नहीं करा सकता। गुण के लिए वस्तु किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखती। पैन नीला

5. ज्ञान-क्रिया हि सकर्मिका शास्त्र दीपिका, पृ० 56।

है' इसमें पेन तथा नीला ये दो ही पदार्थ पर्याप्त हैं। इन दो के अतिरिक्त किसी अन्य तीसरे पदार्थ की यहाँ आवश्यकता नही है जिसके बिना कि इसकी व्याख्या असंभव हो जाय (यहाँ हम सम्बन्ध रूपी तीसरे पदार्थ की चर्चा नही कर रहे हैं)। किन्तु ज्ञान में आत्मा तथा ज्ञान के अतिरिक्त एक तीसरे पदार्थ, विषय, की भी आवश्यकता होती है। सभी गुणवादी इस बात को स्वीकार करते हैं कि बिना विषय के ज्ञान सम्भव नही है। ज्ञान सदैव किसी न किसी विषय का ही होगा। न्याय आदि सभी स्वीकार करते हैं कि विषय के अभाव मे ज्ञान का भी अभाव हो जाएगा। किन्तु इस पर मीमासक कहते हैं कि तब तो ज्ञान को गुण न मान कर कर्म ही मानना अधिक उपयुक्त होगा। ज्ञान मे विषय की मानसिक प्राप्ति होती है तथा इस प्राप्ति की तब तक कोई व्याख्या नही हो सकती जब तक कि ज्ञान को क्रिया न मान लिया जाए।

यहाँ पर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्रिया में तो स्पन्दन आवश्यक है तथा आत्मा मे, जो अभौतिक तत्त्व है, स्पन्दन नहीं हो सकता। इसका उत्तर देते हुए कुमारिल कहते हैं कि वैशेषिक की भाँति गति ही क्रिया का एक मात्र रूप नही है। जो कुछ भी धातु अर्थ मे प्रयुक्त किया जा सकता है क्रिया होती है तथा चूँकि 'ज्ञान' शब्द भी धातु अर्थ मे ही प्रयुक्त होता है, यह भी एक क्रिया है। कुमारिल आगे कहते हैं कि चूँकि आत्मा मे संकल्प-शक्ति होती है अतः वह क्रियावान है।

यहाँ पर फिर से प्रश्न पूछा जा सकता है कि सुषुप्ति, मूर्च्छा आदि अचेतन अवस्थाओ में आत्मा की क्रिया का क्या होता है ? यदि आत्मा स्वरूपत. क्रियाशील है तो इसे निष्क्रिय कदापि नही होना चाहिए। इसके उत्तर मे कुमारिल का कहना है कि वास्तव मे ज्ञान आत्मा की क्रिया-शक्ति अथवा योग्यता है। यह योग्यता प्रायः अभिव्यक्त होती रहती है किन्तु सुषुप्ति आदि मे यह अव्यक्त रहती है।

कुमारिल का दावा है कि उनका यह शक्ति का सिद्धान्त न्याय तथा प्रभाकर के गुण-सिद्धान्त से अधिक युक्तियुक्त है। गुण व्यक्त तथा अव्यक्त दोनो नहीं रह सकता, वह या तो रहता है या नही रहता है। अतः न्याय मत मे सुषुप्ति आदि अवस्था मे अन्य अचेतन पदार्थों की भाँति ही आत्मा को भी अचेतन मानना पड़ता और तब आत्मा का अनात्मा से भेद करना कठिन हो जाता है जबकि भाट्ट मत के अनुसार सुषुप्ति आदि अवस्था मे भी आत्मा तथा अन्य अचेतन पदार्थों मे एक मूल भेद होता है। आत्मा में उस समय भी ज्ञान-क्रिया की शक्ति होती है, अन्य अनात्म तत्त्वो में यह शक्ति नहीं होती।

न्याय मत की तुलना में इस दृष्टि से भाट्ट मत की एक और भी विशेषता है। चेतना को गुण मानने पर, अचेतन अवस्था से चेतन अवस्था मे आने के लिए आत्मा पूर्ण रूपेण अन्य वस्तुओं पर निर्भर रहता है। आत्मा स्वयं उस समय कुछ नहीं कर सकता। जब इन्द्रियां, मन, बुद्धि, विषय से उसका संपर्क करा दें तब उसमें ज्ञान

उत्पन्न होता है। किन्तु इस स्थिति मे 'आत्मा जानता है', 'आत्मा ज्ञाता है', इन कथनों का कोई अर्थ नहीं होता। कहना यह चाहिए कि मन, बुद्धि आदि आत्मा में ज्ञान उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार न्याय आत्मा के ज्ञातृत्व की सफल व्याख्या नहीं कर पाता है। आत्मा पूर्ण रूप से परतंत्र बन जाता है तथा उसमें स्वतन्त्रता को कोई स्थान नहीं रह जाता। इस प्रकार अन्य भौतिक पदार्थों से विशेष उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित नहीं होती। इसके विपरीत भाट्ट मत में ज्ञान को आत्मा ही स्वेच्छा से प्राप्त करता है तथा इस स्वतन्त्रता के लिए उसमें काफी अवकाश बचा रहता है। न्याय की अचेतन आत्मा में स्वेच्छा के लिए वास्तव में कोई स्थान नही हो सकता। चेतन होने पर ही उसमें इसके लिए स्थान संभव है। भाट्ट मत में आत्मा में शक्ति रूप से चेतना सदैव विद्यमान होने के कारण इस प्रकार की संभावना के लिए पर्याप्त स्थान है। न्याय मत में अचेतन से चेतनावस्था में लाने के लिए इन्द्रियां, विषय आदि आत्मा को बरबस प्रभावित करती हैं जब कि भाट्ट मत में यह क्रिया आत्मा द्वारा प्रेरित होती है। न्याय मत मे आत्मा में कोई ऐसा संस्कार अथवा अन्य तत्व अवशेष नहीं रह जाता जो पुनः चेतन स्थिति में ला सके, जबकि भाट्ट मत मे शक्ति रूप से ज्ञान आत्मा में सदैव विद्यमान रहता है जो कभी भी उसे अचेतनावस्था से चेतनावस्था में ला देता है।

किन्तु प्रश्न यह है कि क्या मोक्ष-स्थिति में भी चेतना की यह शक्ति उसमें विद्यमान रहती है? यदि हाँ, तो वह फिर कभी प्रस्फुटित क्यों नहीं होती? यदि यह कहा जाय कि उद्दीपन या निमित्त कारण का सदैव के लिए अभाव हो जाने से उसकी चेतना शक्ति सदैव के लिए सुप्त हो जाती है तथा वह केवल शक्ति के रूप में ही फिर वहाँ विद्यमान रहती है, तो यह उत्तर-विशेष बल नहीं रखता। ऐसी शक्ति, जो अब कभी व्यक्त हो ही नही सकती, उसके अभाव के समान ही है। उसके वहाँ होने का प्रमाण भी क्या है? इस प्रकार यदि इस शक्ति का प्रादुर्भाव सदैव किसी बाह्य तत्व पर आधारित हो तब वास्तव मे न्याय तथा भाट्ट मत मे कोई मूल भेद नहीं रह जाता।

न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसा आदि द्वैतवादी दार्शनिको के साथ सांख्य तथा अद्वैत वेदान्त आदि दार्शनिको का मुख्य विवाद इन दो तत्वो के संबन्ध को लेकर है। यदि ज्ञान अथवा चेतना स्वयं में गुण अथवा कर्म या कर्म शक्ति है तथा इस गुण अथवा कर्म का आश्रय इससे भिन्न आत्म तत्व है तब प्रश्न उठता है कि ये दो भिन्न पदार्थ एक-दूसरे से किस प्रकार सम्बन्धित हो सकते हैं। नैयायिकों के समवायसम्बन्ध की शंकर ने अनेक स्थलों पर कटु आलोचना की है। इस आलोचना को इस सन्दर्भ

6. कारक-चार्ट प्रकरण देखिए।

चर्चा कर चुके हैं तथा इसे यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनों के विपरीत सांख्य-योग ज्ञान को आत्मा का गुण अथवा कर्म मानने को तैयार नहीं है। चैतन्य स्वयं में तत्त्व है, किसी का गुण अथवा कर्म नहीं। सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष अथवा आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप, निष्क्रिय, निर्विकारी, अभोक्ता तथा अपरिणामी है।

सांख्य दर्शन में 'ज्ञान' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। प्रथम तो पुरुष को जब ज्ञानस्वरूप कहा है तब उसका अर्थ शुद्ध चैतन्य से है। इसीलिए पुरुष को वे शुद्ध, बुद्ध, मुक्त चैतन्यस्वरूप परिभाषित करते हैं। किन्तु साथ ही 'ज्ञान' शब्द को व्यावहारिक ज्ञान के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता है तथा सांख्य के अनुसार ज्ञान के स्वरूप को समझने के लिए इन दोनों अर्थों के भेद को भली प्रकार समझना आवश्यक है।

सर्वप्रथम तो, सांख्य दर्शन में पुरुष को ज्ञानस्वरूप कहने से क्या तात्पर्य है, कहीं भी स्पष्ट नहीं किया गया है, तथा जब पुरुष के लक्षण बतलाते हुए ईश्वरकृष्ण उसे द्रष्टा, मध्यस्थ, साक्षी आदि भी कहते हैं तो कठिनाई और भी बढ़ जाती है। यहाँ पर यदि द्रष्टा तथा 'साक्षी' शब्दों का अर्थ केवल यह समझा जाय कि पुरुष स्वयं अपने आपको अपने आपके प्रति ही प्रकाशित करता है, अर्थात् वह स्वयं का ही साक्षी तथा द्रष्टा है प्रकृति रूप विषय का नहीं, तब यद्यपि वह कई कठिनाइयों से तो बच जाता है किन्तु उसका अद्वैत वेदान्त के मत से अभेद हो जाता है तथा व्यावहारिक ज्ञान भी मिथ्या तथा विवर्तरूप सिद्ध हो जाने से सांख्य की यथार्थवादी आधारशिला ही हिल जाती है। किन्तु यदि वह यह माने कि पुरुष स्वरूपतः ही विषयों का द्रष्टा तथा साक्षी है तब उसे शुद्ध, कूटस्थ, अपरिणामी आदि कहने में कठिनाई होती है। न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसादि दर्शन ज्ञान को आवश्यक रूप से सकर्मक मानते हैं। उनका कहना है कि ज्ञान निश्चित रूप से किसी विषय का ही होता है। ऐसा ज्ञान जिसका कोई विषय न हो, विरोधाभास है। यदि सांख्य इस तर्क को स्वीकार कर लेता है तब इसका अर्थ यह होगा कि पुरुष रूप ज्ञान का भी कोई न कोई विषय सदैव रहता है। यह विषय स्वयं पुरुष नहीं हो सकता। सांख्य के अनुसार ज्ञाता तथा ज्ञेय, विषय तथा विषयी का भेद मूलभूत है जो कभी घट नहीं सकता। ऐसी अवस्था में एक ही पुरुष एक साथ ज्ञाता तथा ज्ञेय कैसे हो सकता है ? यदि इस पुरुष चैतन्य का विषय स्वयं पुरुष न होकर अन्य, जो केवल प्रकृति ही हो सकती है, हो तब प्रकृति को तो सांख्य दार्शनिक परिणामी नित्य मानते हैं। उसमें विरूप या सरूप परिणाम सदैव होते रहते हैं तथा पुरुष चैतन्य का इन विषयों के ज्ञाता होने का सांख्य में सिर्फ एक ही अर्थ हो सकता है और वह है पुरुष का स्वयं विषयाकार होना। अपनी स्वरूप-स्थिति में पुरुष केवली होता है, अर्थात् अपने से अन्य सभी तत्त्वों से वह

अलग रहता है। चैतन्य केवल पुरुष का लक्षण है, प्रकृति का नहीं। अतः प्रकृति के ज्ञान का अर्थ ही होगा चैतन्य का उससे प्रभावित होना या उसके आकार का होना। किन्तु ऐसी अवस्था मे उसके शुद्धत्व, कूटस्थत्व या अपरिणामित्व का क्या होगा ? यदि पुरुष को स्वरूपतः प्रकृति का साक्षी तथा द्रष्टा मान लिया जाय तो पुरुष कभी भी अपरिणामी नहीं माना जा सकता है। स्पष्टतः सांख्य को इन विरोधों से बचाने के लिए अद्वैत वेदान्त की भाँति यही स्वीकार करना होगा कि पुरुष चैतन्य अथवा आत्म चैतन्य में विषय के लिए कोई स्थान नहीं है। वह त्रिपुटी-रहित शुद्ध चैतन्य है जहाँ ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान का भेद है ही नहीं। किन्तु यह मत तो अद्वैत वेदान्त का है तथा इस मत से पुरुष के बहुत्व का मेल नही बैठता है।

व्यावहारिक स्तर पर ज्ञान की व्याख्या सांख्य के लिए और भी कठिन है। जैसाकि कहा जा चुका है, सांख्य दर्शन मूल रूप से यथार्थवादी दर्शन है। उसके लिए पुरुष तथा अपने समस्त परिणामों सहित प्रकृति की वास्तविक तथा स्वतन्त्र सत्ता है। साथ ही प्रकृति तथा उसके परिणाम रूप व्यक्त जगत् का ज्ञान भी यथार्थ है. पुरुष की निर्विकारता तथा शुद्धता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए सांख्य दर्शन व्यावहारिक ज्ञान में पुरुष का सक्रिय योगदान स्वीकार नहीं करते। सांख्य दार्शनिक ज्ञान की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि पहले विषय इन्द्रिय के माध्यम से मन के साथ संयोग करता है, तत्पश्चात् मन उस विषय को बुद्धि तक पहुँचाता है। बुद्धि एक दर्पण के समान है। सत्व गुण प्रकाशक होता है तथा बुद्धि में सत्व गुण की प्रधानता होती है। इसीलिए विषय का बुद्धि के साथ जब संयोग होता है तब बुद्धि उसी विषय के आकार को ग्रहण कर लेती है। बुद्धि के इस विषयाकार होने को बुद्धि की वृत्ति कहा जाता है। किन्तु अन्ततः बुद्धि भी है तो प्रकृति का ही एक परिणाम। बुद्धि का विषयाकार मात्र हो जाना ज्ञान उत्पन्न होना नही है। यदि बुद्धि के विषयाकार हो जाने मात्र से ही ज्ञान की उत्पत्ति मान ली जाती तो सांख्य में पुरुष तत्त्व को मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। सांख्य चैतन्य तत्त्व को प्रकृति से भिन्न तथा स्वतन्त्र तत्त्व मानता है। पुरुष के सहयोग बिना ज्ञान की व्याख्या पुरुष की निरर्थकता प्रमाणित करती है। अतः सांख्य दार्शनिक मानते हैं कि बुद्धि एक ओर तो विषय के आकार को ग्रहण करती है तथा दूसरी ओर पुरुष द्वारा प्रकाशित होती है। सतोगुण की प्रधानता के कारण तथा सान्निध्य के कारण केवल बुद्धि मे ही पुरुष का प्रतिबिंबित होना स्वीकार किया गया है, अन्य तत्त्वों में नहीं और इसीलिए बुद्धि की वृत्ति के रूप मे ही ज्ञान उत्पन्न हुआ माना जाता है। ज्ञान उत्पन्न होने की यह प्रक्रिया न केवल सांख्य में बल्कि अद्वैत वेदान्त तथा रामानुज आदि में भी लगभग इसी रूप से मानी गई है।

पुरुष तथा प्रकृति के इस अलौकिक तथा विचित्र संयोग में सान्निध्य का जो

प्रयोजन बतलाया गया है इसका अर्थ तनिक भी स्पष्ट नहीं है। बल्कि यह कहना भी अतिशयोक्ति नहीं होगी कि किसी भी अर्थ में पुरुष का प्रकृति से सान्निध्य संभव नहीं है। प्रथम तो, यदि सान्निध्य को देश-काल की भाषा में समझें तथा पुरुष और प्रकृति के सान्निध्य मे वही अर्थ लें जो दो भौतिक पदार्थों के पास-पास होने से लिया जाता है, तो पुरुष तथा प्रकृति का इस प्रकार का सान्निध्य नही हो सकता। पुरुष अभौतिक तत्त्व है अत. प्रकृति के साथ उसका देश-कालिक सान्निध्य सम्भव नहीं है। पुरुष देश तथा काल से परे है। अत. वहाँ यह कहना कोई अर्थ नही रखता कि उसकी प्रकृति से सन्निधि है। पुन यदि तर्क के लिए यह मान भी लिया जाय कि अभौतिक तत्त्वो का भी अन्य भौतिक अथवा अभौतिक तत्त्वो से सान्निध्य हो सकता है तब भी चूँकि पुरुष तो नित्य तथा विभुरूप है, उसका सान्निध्य अन्य सभी तत्त्वो से समान रूप से होगा, और तब यह कहने का कोई अर्थ नहीं है कि बुद्धि से ही पुरुष का सान्निध्य है अत. उसी मे वह प्रतिबिंबित होता है अन्य तत्त्वो मे नही। इसके अतिरिक्त, यदि सान्निध्य से तात्पर्य स्वरूप मे सान्निध्य मानें, जिसका अर्थ होगा कि बुद्धि की पुरुष से स्वरूप की दृष्टि से सबसे अधिक समीपता या समानता है, तो यह भी सांख्य मत मे स्वीकार नहीं किया जा सकता। पुरुष तथा प्रकृति का विरोध सांख्य मे पूरा माना गया है। ये दोनों आपस मे विपरीत स्वभाव वाले हैं अत: इनमे समानता या इस प्रकार की समीपता का प्रश्न नही उठता। नहीं यह कहा जा सकता है कि दोनों के स्वरूपतः विपरीत होते हुए भी प्रकृति के विभिन्न तत्त्वो की पुरुष से भिन्नता मे कुछ न्यूनाधिकता हो सकती है; यद्यपि प्रकृति से उत्पन्न सभी तत्त्व पुरुष से भिन्न हैं तथापि कुछ तत्त्व कुछ अन्य तत्त्वों की अपेक्षा अधिक भिन्न हैं तथा बुद्धि में यह भिन्नता सबसे कम है, अतः केवल बुद्धि मे ही पुरुष प्रतिबिंबित होता है अन्य तत्त्वो मे नही, किन्तु इससे पहला तो निष्कर्ष यह निकलेगा कि पुरुष सभी प्रकृति-तत्त्वो में न्यूनाधिक रूप से प्रतिबिंबित होगा तथा ज्ञान केवल बुद्धि की वृत्ति के रूप मे ही उत्पन्न नहीं होगा बल्कि इन्द्रियों, यहाँ तक कि पंच भौतिक पदार्थों मे भी, न्यूनाधिक रूप से अवश्य होगा। दूसरे, इस सामीप्य अथवा सान्निध्य का अर्थ वहाँ क्या होगा? जैसा हम कह चुके हैं, पुरुष का प्रकृति-तत्त्व से पूर्ण वैभिन्य है अतः प्रकृति-तत्त्वों का आपसी वैभिन्य भी किस प्रकार एक प्रकृति-तत्त्व को अन्य तत्त्वों की अपेक्षा उसे पुरुष के अधिक समीप ला सकता है? यह सब तो तब होता जब कि पुरुष तथा प्रकृति-तत्त्वो में कुछ बातें समान तथा कुछ असमान होतीं तथा इनकी न्यूनाधिकता से ही एक तत्त्व दूसरे तत्त्व की अपेक्षा उससे अधिक समीप अथवा दूर होता।

प्रायः ऐसा माना जाता है, जैसा कि सांख्य दर्शन मे भी कई स्थलो पर स्पष्ट है, कि सत्त्व गुण पुरुष के सबसे अधिक समीप है अतः सत्त्व गुण का प्राधान्य ही बुद्धि का पुरुष के साथ सान्निध्य है। दीपक काली दीवार पर प्रतिबिंबित नहीं होगा, किन्तु

कांच जितना स्वच्छ होगा उतना ही वह उसमे अवश्य ही प्रतिबिंबित होगा। यह बात सही है कि भारतीय परम्परा के अनुसार सत्व गुण की प्राप्ति अथवा उसकी प्रधानता आत्म-तत्त्व की उपलब्धि मे सबसे अधिक सहायक है। सत्व गुण की प्रधानता निश्चित रूप से आत्मबोध के लिए प्रयोजक मानी गयी है। जितना ही व्यक्ति रजोगुणी अथवा तमोगुणी है उतना ही वह आत्म तत्त्व से दूर तथा जितना ही वह सतोगुणी है आत्म-तत्त्व से समीप माना जाता है। इसलिए सामीप्य अथवा सान्निध्य से यहाँ तात्पर्य बुद्धि का वह सतोगुणी स्वभाव ही मानना चाहिए।

किन्तु तार्किक दृष्टि से जब इस पहलू पर विचार करते हैं तब यह मत भी बहुत आपत्तिजनक सिद्ध होता है। प्रथम तो प्रकृति का प्रत्येक तत्त्व किसी भी समय किसी शुद्ध गुण वाला नहीं होता, उसमें किसी गुण-विशेष की प्रधानता मात्र होती है। सत्वगुण-प्रधान तत्त्व में भी रजोगुण तथा तमोगुण विद्यमान होते हैं, यद्यपि वे गौण रूप से होते है, मुख्य रूप से नही। इसी प्रकार रजोगुण-प्रधान अथवा तमोगुण प्रधान पदार्थ मे भी सदैव गौण रूप से सत्व की विद्यमानता अवश्य होती है। किन्तु ऐसा होने पर वही निष्कर्ष निकलता है जो हम ऊपर देख चुके है। सत्व गुण के सर्वत्र न्यूनाधिक रूप से उपस्थित रहने से तथा उसके साथ ही साथ सर्वत्र सदैव रजोगुण तथा तमोगुण की वर्तमानता के कारण पुरुष का प्रतिबिंब 'तथा फलस्वरूप ज्ञान की उत्पत्ति की कमी प्रकृति-तत्त्वो में न्यूनाधिक रूप से अवश्य ही होनी चाहिए और तब मन, इन्द्रिय तथा पंच भूतों के विकार भी बुद्धि वृत्ति की भाँति ज्ञान रूप ही होंगे।

साथ ही चेतना के प्रतिबिंब, अथवा चैतन्य के बुद्धि पर प्रकाश से ही क्या आशय है ? पुरुष या चैतन्य को भौतिक प्रकाश-रश्मि की भाँति तो समझा नहीं जा सकता जिससे यह समझ मे आजाय कि जिस प्रकार दीपक कांच में प्रकाशित हो उसे स्वयं प्रकाशमय बना देता है उसी प्रकार चैतन्य भी बुद्धि में प्रतिबिंबित हो उसे प्रकाशित कर देता है। 'प्रतिबिंब', 'प्रकाश' आदि शब्दों को मात्र आलंकारिक अर्थ में लेना होगा जिसका सिर्फ यह अर्थ होगा कि किसी न किसी प्रकार चैतन्य इस भौतिक शरीर से सम्बन्ध स्थापित कर इसे प्रभावित करता है। किन्तु यह तो समस्या का कथन मात्र हुआ, उसका हल नही। यह तो स्पष्ट ही है कि ज्ञान की उत्पत्ति के लिए चैतन्य को शरीर को किसी न किसी रूप में अवश्य ही प्रभावित करना चाहिए। किन्तु इस प्रभाव या संयोग को कैसे समझा जाय, यह मूल दार्शनिक समस्या है। सांख्य दार्शनिक सान्निध्य तथा प्रतिबिंब की बात कर समस्या का कथन तो अवश्य करते है किन्तु उसका समाधान नहीं करते।

न्याय, वैशेषिक, मीमांसा आदि उन सभी दर्शनों में भी जो आत्म-तत्त्व तथा

धनात्म-तत्त्व को भिन्न मान कर उन दोनों के किसी न किसी प्रकार के संयोग से ज्ञान की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं यह समस्या उत्पन्न होती है, किन्तु इन दर्शनों ने इस समस्या के महत्त्व को समझा नहीं है इसीलिए इसके समाधान की ओर उनका ध्यान भी नहीं गया। सांख्य पुरुष-तत्त्व तथा प्रकृति-तत्त्व के विपरीत स्वरूप को स्पष्ट कर अन्य दर्शनों की अपेक्षा कम से कम समस्या को महत्त्वपूर्ण रूप से प्रकाश में तो अवश्य ही लाया है तथा इसके समाधान का भी प्रयास किया है। समाधान कहाँ तक हो पाया है, यह अलग बात है। वैसे आत्मा तथा शरीर के परस्पर प्रतिक्रियावाद का सिद्धांत सदियों से दार्शनिकों को उलझन में डाले हुए है। यह सिद्धांत सामान्य अनुभव के सबसे समीप होते हुए भी कई दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न करता है जिनका संतोषप्रद समाधान हो नहीं पाया है।

इस संदर्भ में सांख्य दर्शन की देन इस बात को लेकर है कि इसने स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया है कि आत्म-तत्त्व अथवा भौतिक-तत्त्व इन विरोधी गुणों का अन्तर्भाव करके उपयुक्त व्याख्या नहीं की जा सकती। इसलिए उसने बुद्धि-तत्त्व के रूप में चेतन–अचेतन की एक ग्रन्थी स्वीकार की है। बुद्धि-तत्त्व जड़ होते हुए भी चेतनवत् है और इसलिए बुद्धि में ही ज्ञान उत्पन्न होता है। यहाँ पर सांख्य की ज्ञानमीमांसा में हम ज्ञान को प्रकृति में नव्योत्क्रांत गुण (इमर्जेन्ट क्वालिटि) के रूप में समझें तो समस्या के समाधान में हमें सहायता मिलती है। नव्योत्क्रान्ति को मानने वाले दार्शनिकों का कहना है कि भौतिक विकास की एक विशेष अवस्था में उसमें प्राण-तत्त्व तथा प्राणिक विकास की अवस्था-विशेष में चेतना का उद्‌गम होता है। सांख्य का इस सिद्धान्त के अनुकूल यह मानना है कि प्रकृति की अवस्था-विशेष, जिसे वे बुद्धि कहते हैं, ही चेतन तत्त्व के उद्‌गम के लिए उपयोगी होती है। किन्तु उत्क्रामी विकासवादियों की भांति ही सांख्य भी केवल इससे कि ज्ञान का बुद्धि में उदय होता है, उसे बुद्धि का गुण मानने को तैयार नहीं है। चेतना को वे एक स्वतन्त्र तथा नूतन तत्त्व मानते हैं जिसका बुद्धि में उत्क्रमण होता है। विकास की वह कौनसी विशेषता है जिससे उसमें चेतन तत्त्व उत्क्रमित होता है तथा केवल इस ही अवस्था में क्यों उसमें चेतना का उद्‌भव होता है—ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर अभी तक कोई वैज्ञानिक या दार्शनिक नहीं दे पाया है।

यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त उत्क्रान्तिवादी व्याख्या न्याय, मीमांसा आदि दर्शनों को भी मान्य हो सकती है किन्तु इसमें मुख्य कठिनाई यह उपस्थित होती है कि न्याय ज्ञान को आत्मा में उत्पन्न मानते हैं तथा आत्मा में किसी प्रकार के विकास के लिए स्थान नहीं है। सांख्य ज्ञान की उत्पत्ति बुद्धि में मान कर इस कठिनाई से बच जाते हैं।

यह कहना उचित नहीं होगा कि उपर्युक्त वर्णित उत्क्रामी विकास वाली व्याख्या

साख्य को पूर्ण रूप से मान्य होगी। यदि सांख्य यह मान लेता कि बुद्धि चेतना हो जाती है अथवा चेतना बुद्धि का वास्तविक गुण है तब ही यह व्याख्या सांख्य को मान्य हो सकती है, किन्तु सांख्य यथार्थवादी तथा प्रत्ययवादी दृष्टिकोणों के बीच झूलता हुआ नजर आता है। एक ओर तो वह यह देखता है कि बुद्धि किस प्रकार उससे बिल्कुल विपरीत स्वभाव वाले गुणों से युक्त हो सकती है और इसलिए वह बुद्धि के लिए केवल यह कहता है कि बुद्धि चेतन होती नहीं है, 'चेतनवत्' प्रतीत होती है। किन्तु यह दृष्टिकोण वास्तव में अद्वैत वेदान्त का होना चाहिए, जहाँ ज्ञान वास्तविक नहीं वरन् प्रतीति मात्र है। किन्तु सांख्य इस स्थिति को भी स्वीकार करने के पक्ष में नहीं है। बुद्धि को चेतनवत् मानते हुए भी वह कहता है कि इससे उत्पन्न ज्ञान वास्तविक ही होता है, मिथ्या नहीं।

न्याय, मीमांसा तथा सांख्य आदि दर्शन वस्तुवादी होने के कारण ज्ञानमीमांसीय द्वैतवाद को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार विषय की ज्ञान से बाह्य तथा स्वतंत्र सत्ता है तथा वही ज्ञान में प्रकाशित भी होती है। ज्ञान विषय को प्रकाशित करता है, उसकी रचना नहीं करता। ज्ञान की इस द्वैतवादी व्याख्या में कई दार्शनिक कठिनाइयाँ परिलक्षित होती हैं, जिनमें से कुछ की चर्चा हम कर चुके हैं। विज्ञानवादी दार्शनिक इन कठिनाइयों पर विशेष बल देते हैं तथा उनकी मान्यता है कि ज्ञान की युक्तियुक्त व्याख्या के लिए हमें विषय की ज्ञान से स्वतंत्र सत्ता का निषेध करना होगा।

भारतीय दर्शन में दो प्रकार के ज्ञान की चर्चा है, निर्विषय तथा सविषय।[1] निर्विषय ज्ञान द्वैत से परे होता है अतः यहाँ प्रश्न निर्विषय ज्ञान की व्याख्या का न होकर सविषय ज्ञान की व्याख्या का है। ज्ञान की व्याख्या करते समय वस्तुवादी दार्शनिक मानते हैं कि ज्ञान विषय की वास्तविक अभिव्यक्ति है। किन्तु विज्ञानवादी दार्शनिक ज्ञान के विश्लेषण से इससे भिन्न निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। योगाचार दर्शन का तर्क है कि विषय विशेष का ज्ञान होने का अर्थ है ज्ञान का विषयाकार होना, अर्थात् जिसका हमें ज्ञान हो रहा है उसी का वह आकार भी है। दूसरे, उनका कहना है कि दर्शन चाहे वस्तुवादी हो चाहे प्रत्ययवादी अथवा विज्ञानवादी, सभी को ज्ञान की सत्ता अवश्यमेव स्वीकार करनी होगी। कोई भी विषय ज्ञान द्वारा ही प्रकाशित होता है तथा ज्ञान का निषेध करने पर हम किसी भी विषय की, यहाँ तक कि ज्ञान की भी, चर्चा नहीं कर सकते। इस प्रकार, यह मान लेने पर कि ज्ञान से ही सब कुछ प्रकाशित होता है, और इस ज्ञान को अन्य ज्ञान के द्वारा प्रकाशित मानें, तो अनवस्था दोष होगा; यह सिद्ध होता है कि ज्ञान स्वयं प्रकाश है।

1. निर्विषय ज्ञान के बारे में लेखक का अन्य लेख दार्शनिक त्रैमासिक, अक्तूबर 1973 में देखिये।

उपर्युक्त दोनों स्थापनाओं से विज्ञानवादी अपने निष्कर्ष को फलित करते हैं। वे कहते हैं कि क्योंकि ज्ञान का विषय तथा उसके आकार का अधिष्ठान एक ही है तथा वह ज्ञान स्वय प्रकाश होने से स्वय ही अपने–आपको जानता है, अपना विषय वह स्वयं ही है, अत उसका आकार भी उसका अपना ही आकार है, किसी बाह्य विषय का नहीं।

विज्ञानवादी अपने पक्ष में पुनः प्रमाण देते हुए कहते हैं कि ज्ञान के आकार तथा विषय मे या तो एकरूपता हो सकती है या भिन्नता, या फिर समानता मानी जा सकती है। इनमें भिन्नता मानने पर विषय का कुछ भी ज्ञान संभव नहीं है। यदि ज्ञान एक प्रकार का हो तथा विषय दूसरी प्रकार का तब यह कैसे कहा जा सकेगा कि यह ज्ञान विषय का ज्ञान है ? साथ ही, जब किसी विषय का उससे भिन्न प्रकारक ज्ञान होता है तब एक ही विषय से उससे भिन्न अनेक प्रकारक ज्ञान क्यो नहीं हो सकते ? इन कठिनाइयों का निराकरण इस प्रस्थापना द्वारा किया जा सकता है कि ज्ञान और विषय न तो अभिन्न होते हैं और न पूर्णतः भिन्न होते हैं। ये भिन्न किन्तु अनुरूप होते हैं।

किन्तु अनुरूपता या समानता मानने पर विज्ञानवादी प्रश्न करते हैं कि यह समानता पूर्ण है अथवा आंशिक ? यदि यह समानता पूर्ण है तब ज्ञान भी विषय की भाँति अचेतन हो जाएगा, क्योंकि विषय अचेतन रूप ही होता है, यदि समानता आंशिक मानें तब इस आंशिकता का स्वरूप निश्चित करना होगा कि किस अंश में ये दोनों समान तथा किस अंश में असमान हैं ? यह निश्चय करना सम्भव नहीं है। वैसे भी विषय तथा ज्ञान की समानता तथा असमानता का निर्णय तभी किया जा सकता है जब ज्ञान तथा विषय का अलग-अलग स्वतंत्र रूप से अनुभव हो और दोनों की तुलना करके ही यह कहा जा सकता है कि इनमे समानता है अथवा नहीं ? किन्तु क्योंकि इन दोनों का इस प्रकार से स्वतंत्र रूप से अनुभव संभव नहीं है, इसलिए इनकी समानता तथा असमानता की चर्चा करना व्यर्थ है।

तीसरे, यदि यह माना जाए कि इन दोनो में पूर्ण एकरूपता है तथा विषय अपने वास्तविक रूप को ज्ञान में अभिव्यक्त करता है तथा इस प्रकार ज्ञान का आकार तथा विषय का आकार बिल्कुल एक है, तब प्रथम तो यह मानना पड़ेगा कि विषय ही ज्ञान को अपना रूप प्रदान करता है, और ज्ञान का अपना स्वरूप निराकार मानना होगा और यह मानना होगा कि उस निराकार ज्ञान पर विषय अपना रूप आरोपित करता है। किन्तु यदि ज्ञान को स्वरूपतः निराकार मानें तो वह विषय को किस प्रकार प्रकाशित कर सकेगा ? यदि ज्ञान की विभिन्नता से ही विषय की विभिन्नता स्थापित होती है तब ज्ञान को साकार ही मानना होगा, निराकार नहीं। आकार ज्ञान का अपना गुण होगा, केवल विषय का नहीं। यह कहना हमारी विशेष

सहायता नही करता कि ज्ञान स्वरूपतः निराकार होने पर भी विषय के प्रभाव से आकार ग्रहण कर उसे प्रकाशित करता है। क्योंकि यहाँ पर भी प्रथम-तो ज्ञान निराकार ही है तथा वही निराकार ज्ञान विषय को प्रकाशित करता है। यदि यह कहें कि जब तक ज्ञान निराकार रहता है, विषय को प्रकाशित नहीं करता, विषय रूप होने पर ही विषय उसमें प्रकाशित होता है, तब इसका अर्थ होगा कि ज्ञान पहले साकार बनता है और तब वह विषय को प्रकाशित करता है। किन्तु यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। ज्ञान का साकार बनना ही वास्तव मे विषय को प्रकाशित करना है। अत. यदि हम यह मानें कि विषय पहले चेतना पर अपना प्रभाव डालता है तथा फिर उसे आकार देकर अपने आपको प्रकाशित करता है, तब पूर्वोक्त बात पर हमें पुनः लौटना पड़ता है कि वास्तव मे निराकार ज्ञान के प्रति ही विषय प्रकाशित होता है। और तब कठिनाई ज्यों की त्यों बनी रहती है।

यदि ज्ञान को निराकार तथा विषय को साकार मानें तो दोनों में मूलत भेद हो जाएगा तथा एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न होने से ज्ञान विषय को प्रकाशित नही कर सकेगा। पूर्ण भेद होने पर ज्ञान तथा विषय असंबंधित रह जायेंगे और असबंधित रहने पर ज्ञान अपने विषय को प्रकाशित कैसे कर सकता है? साथ ही, क्योंकि एक ही ज्ञान सभी विषयों से असंबंधित होगा तब वह केवल विषय विशेष को ही क्यों प्रकाशित करेगा? वह सभी विषयो को प्रकाशित कर सकने में समर्थ माना जाए तो प्रत्येक ज्ञान सर्वज्ञता लिये हुए होगा। इस सबसे विज्ञानवादी यही निष्कर्ष निकालते हैं कि वास्तव में जो रूप प्रकाशित होता है वह ज्ञान का अपना स्वरूप है, विषय का नहीं।

किन्तु इस पर यह तर्क दिया जा सकता है कि ज्ञान तथा विषय कारणता से सम्बन्धित होते हैं तथा इस प्रकार दोनो के एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी वे आपस में असम्बद्ध नहीं रहते। इस पर विज्ञानवादियो का उत्तर है कि ज्ञान मे कारण तो चक्षु आदि इन्द्रियाँ भी हैं। अतः देखते समय चक्षु आदि का ज्ञान भी होना चाहिए। इस पर यदि यह कहा जाए कि चक्षु आदि मे अपने आकार को ज्ञान पर आरोपित करने की क्षमता नही है तब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इसका क्या प्रमाण है कि बाह्य विषयो में ही अपने रूप को आरोपित करने की क्षमता है, इन्द्रियों में नही और फिर, बाह्य विषयों के कारण कहने मात्र से समस्या का समाधान नहीं हो जाता है। समस्या के समुचित समाधान के लिए यह भी समझना आवश्यक है कि किस प्रकार एक अत्यन्त भिन्न वस्तु अपने से भिन्न वस्तु को प्रभावित कर अपने आकार के अनुरूप कर सकती है, इसकी व्याख्या वस्तुवादी भली प्रकार कर पाये हैं।

किन्तु यहाँ पर वस्तुवादी एक मूलभूत प्रश्न पूछ सकते हैं। वे कह सकते हैं कि

यदि रूपादि विषय के बिना ही रूपादि विज्ञप्ति उत्पन्न होती है, रूपादि विषयों के कारण नहीं, तब "देश-काल का नियम, सन्तान का अनियम तथा क्रिया का होना कैसे युक्त हो सकते हैं ?"[1] यह सामान्य अनुभव की बात है कि विषय का ज्ञान देश विशेष में ही होता है, सर्वत्र नहीं होता। मेरे भाई, पुत्रादि मुझे सर्वत्र दिखाई नहीं देते तथा ये भी स्थान विशेष पर सदैव दिखाई नहीं देते, कभी-कभी ही दिखाई देते हैं। यदि विषय के बिना ही विषयाकार ज्ञान की उत्पत्ति होती है तब इनका ज्ञान सर्वत्र तथा सदैव हो सकना चाहिए था। मैं जब चाहता तब तथा जहाँ चाहता वहीं अपनी इच्छा की वस्तु देख सकता था, किन्तु ऐसा होता नहीं है। इसी प्रकार, यदि विषय के बिना ही ज्ञान होता है तब यह आवश्यक नही था कि एक स्थान पर उपस्थित सभी लोगों को वह ज्ञान होता ही, किन्तु यहाँ पर भी हम देखते हैं कि यदि सामने हाथी होता है तो वहाँ पर उपस्थित सभी लोगों को हाथी का दर्शन होता है। पुनः, विषय के बिना जो ज्ञान होता है उसमे क्रिया सम्भव नही है, जैसे स्वप्न मे देखे गए गंधर्व नगर मे रहने की क्रिया सम्भव नहीं है; तब हमारे ज्ञान से जो क्रिया फलित होती है उसकी व्याख्या कैसे सम्भव है ?

इसका उत्तर देते हुए विज्ञानवादी कहते हैं कि देश-कालादि नियमों के लिए बाह्य विषय की सत्ता मानना आवश्यक नही है। हम देखते हैं कि स्वप्न में बाह्य विषय विद्यमान नही होता है किन्तु फिर भी उसमे देश-काल आदि के नियम उसी प्रकार होते हैं जिस प्रकार हमारे जागृत अवस्था के अनुभव मे। स्वप्न में भी विषय कहीं-कहीं ही तथा कभी-कभी दिखाई देते हैं। सदैव तथा सर्वत्र नही दिखाई देते। इसी प्रकार, स्वप्न में क्रिया भी होती है। स्वप्न का पानी स्वप्न की तृषा को शान्त करता है।

इतना होने पर भी यह प्रश्न तो रहता ही है कि आखिर उस समय उसी विषय का ज्ञान क्यों होता है, अन्य विषय का ज्ञान क्यों नहीं होता ? इसके उत्तर मे योगाचार दार्शनिकों का कहना है कि जिस प्रकार बाह्य विषय के अभाव में हमारे वासनागत संस्कारों के कारण हमें स्वप्न मे विभिन्न विषयों का अनुभव होता है ठीक उसी प्रकार हमारे सामान्य अनुभव के सभी ज्ञान कर्म-फल विपाक के परिणाम हैं। प्रत्येक कर्म अपना फल छोड़ता है तथा जब उसका विपाक होता है, तब वह विज्ञान विशेष के रूप मे प्रकाशित होता है। इसी कर्म-फल के कारण विज्ञान विभिन्न रूप ग्रहण करता है। वस्तुवादी दार्शनिक ज्ञान के जिस विशेष रूप की व्याख्या बाह्य वस्तु के प्रभाव द्वारा करते हैं विज्ञानवादी उसी की व्याख्या कर्म-फल विपाक द्वारा करते हैं। कई मनुष्यों में एक समय एक ही ज्ञान उत्पन्न होने की व्याख्या कर्म की

1. वसुबन्धु : विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि, विंशिका 2।

समानता के द्वारा की गई है। मान लीजिए यहां पर उपस्थित सभी-लोग इस समय सामने खड़े हुए हाथी का ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं; तो योगाचार दार्शनिक इस ज्ञान का कारण बाह्य जगत् में किसी हाथी की उपस्थिति न मानकर यह कहेंगे कि यहां पर उपस्थित सभी लोगों में समान कर्म-फल का विपाक हुआ है। नरक में दो प्रकार के प्राणी होते हैं, नारकी तथा नरक-पाल। नारकी लोग वहां की पिभूय नदी आदि की उपस्थिति से भयंकर कष्ट भोगते हैं किन्तु उसी वातावरण में नरक-पाल दु:ख नहीं भोगते। इसका कारण दोनों वर्ग के लोगों के कर्म-फल-विपाक की भिन्नता है।

योगाचार दर्शन इस प्रकार शुद्ध विज्ञानवादी दर्शन है जिसमें विज्ञान के अतिरिक्त किसी भी अन्य वस्तु की कोई सत्ता स्वीकार नहीं की गई है। पाश्चात्य दार्शनिक बर्कले के दर्शन से योगाचार बिल्कुल भिन्न दर्शन है। बर्कले विचारों के अतिरिक्त ईश्वर, आत्मा आदि की सत्ता स्वीकार करता है। विचारों का कारण भी वह बाहर से ईश्वर के संकल्प रूप में मानता है किन्तु योगाचार इस प्रकार की किसी भी अन्य अथवा बाह्य सत्ता को नहीं स्वीकार करता। उसके अनुसार न कोई ईश्वर है और न आत्मा। एक शुद्ध विज्ञान या विज्ञप्ति का प्रवाहमात्र ही है।

वसुबंधु ने अपनी 'विंशतिका' में कर्म-फल-विपाक से उत्पादित विज्ञान-प्रवाह की ही बात की है तथा इसमें उन्होंने आलय विज्ञान जैसे किसी स्थायी आश्रय को इस विज्ञान-प्रवाह के अतिरिक्त स्वीकार नहीं किया है। तात्त्विक तथा ज्ञान-मीमांसा की दृष्टि से यह एक स्वतन्त्र मत बनता भी है तथा बौद्ध विचारधारा के अनुकूल भी है। जहां प्रतीत्य-समुत्पाद, क्षणिकवाद तथा अनात्मवाद जैसे मूल सिद्धान्तों पर दर्शन की स्थापना हो वहां इसी प्रकार की विचारधारा अधिक युक्तियुक्त प्रतीत भी होती है। जहां तक हमारे सामान्य अनुभव की बात है, यह विज्ञान अनेक रूप से भासता है। एक विज्ञान दूसरे विज्ञान से भिन्न है तथा इस प्रकार विज्ञान की व्यावहारिक अनेकता सिद्ध है। किन्तु यहां पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह सामान्य अनुभव का अनेकत्व लिए हुए जो विज्ञान है वह पारमार्थिक रूप में भी सत् है या कि इसका केवल व्यावहारिक दृष्टि से भास मात्र होता है? इसी प्रश्न को एक अन्य प्रकार से भी पूछा जा सकता है, यद्यपि इन दोनों प्रश्नों में मूल अन्तर है। प्रश्न है कि क्या इस [illegible] अनेकत्व को लिया हुआ विज्ञान ही अन्तिम रूप से सत्य है तथा इसके पीछे कोई अन्य आधारभूत विज्ञान नहीं है? इन प्रश्नों के उत्तर के रूप में तीन दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिपादित किए जा सकते हैं। प्रथम, अनेक-रूप व्यावहारिक विज्ञान ही चरम सत् है तथा इसके पीछे सामान्य विज्ञान नहीं है। इस मत के बीज वसुबंधु की 'विंशतिका' में विद्यमान हैं, किन्तु इसे विशेष रूप से शांतरक्षित तथा कमलशील ने विकसित किया। दूसरे मत के अनुसार यह अनेक-रूप विज्ञान प्रतीतिमात्र है तथा वासना-क्षय

होने पर विशुद्ध विज्ञान के रूप मे परिणत हो जाता है तथा यह विशुद्ध विज्ञान ही इस समस्त विज्ञान का पारमार्थिक रूप है। यह मत शंकर के अद्वैतवाद के बहुत समीप आ जाता है। तीसरा मत यह हो सकता है कि दोनों विज्ञान पारमार्थिक सत् हैं तथा यह प्रवृत्ति-विज्ञान वास्तव मे पारमार्थिक विज्ञान की ही अभिव्यक्ति मात्र है। *यहाँ पर भासमान जगत् अविद्या का परिणाम न होकर यथार्थवादी दर्शन* बनता है। श्री अरविन्द का दर्शन इस तृतीय मत से समता रखता है।

बौद्धों की क्षणिकवाद, प्रतीत्य–समुत्पाद तथा अनात्मवाद के सिद्धान्तों मे आस्था को ध्यान मे रखकर यदि हम विचार करें तो प्रथम मत शुद्ध बौद्ध मत के रूप में अधिक युक्तियुक्त ठहरता है। यदि बौद्धों के उपर्युक्त सिद्धांत, जिन पर भगवान बुद्ध का बहुत अधिक आग्रह था, केवल भासमान जगत् के लक्षण न मान कर सत् के ही लक्षण माने जाय तो हम यह कह सकते हैं, जैसा कि योगाचार दार्शनिक दावा करते हैं, कि भगवान बुद्ध के उपदेशों का वास्तविक आशय यही था। चूंकि बौद्ध नैरात्म्य में विश्वास रखते हैं, उनके लिए प्रत्येक विज्ञान की स्वतन्त्र सत्ता मानने में कोई कठिनाई नहीं है तथा कम-से-कम अन्य बौद्ध दार्शनिक तो यह प्रश्न पूछ ही नहीं सकते कि इन विभिन्न विज्ञानों का आधार क्या है? यह मत कुछ भिन्नता के साथ लिबनिज के चिर बिंदुवाद की भाँति होगा। हाँ, लिबनिज की व्यवस्था यहाँ मान्य नहीं होगी। यहाँ पर प्रत्येक विज्ञान एक स्वतन्त्र बिंदु होगा जो अपने आपको ही *जानेगा तथा उसका अन्य किसी विज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं होगा तथा इस प्रकार* विभिन्न विज्ञानों का प्रवाह निरन्तर होता रहेगा। इस प्रकार के दर्शन की अपनी विशेषताएँ तथा कठिनाइयाँ होंगी जिन पर उतना विचार नहीं किया गया है जितना अपेक्षित था। इतना तो निश्चित है कि इससे दार्शनिकों के लिए सिरदर्द बनी हुई द्वैत की समस्या का समाधान अवश्य मिल जाएगा।

इस पर भी स्वयं बौद्ध दार्शनिकों ने यहाँ पर रुक जाना उचित नहीं समझा तथा उन्होंने वे प्रश्न भी उठाए जो उनके दर्शन के क्षेत्र की सीमा मे नहीं थे। उन प्रश्नों के उत्तर में उन्होंने आलय-विज्ञान अथवा अलय-विज्ञान या विशुद्ध-विज्ञान के रूप में इन समस्त विज्ञानों का आधार स्वीकार किया।

वास्तव मे देखा जाय तो विज्ञानवादियों के आलय-विज्ञान को मानने का मुख्य कारण तार्किक न होकर उनकी निर्वाण में आस्था थी। अन्य भारतीय दर्शनों की भाँति बौद्ध-दर्शन का भी केन्द्र-बिन्दु निर्वाण ही है। निर्वाण के स्वरूप तथा संभावना की व्याख्या का आधार तार्किक इतना नहीं है जितना आनुभविक। भगवान बुद्ध ने स्वयं निर्वाण के स्वरूप की व्याख्या की है जिसे बाद के दार्शनिकों ने अधिक विस्तार के साथ तार्किक रूप देने का प्रयास किया है। निर्वाण के बारे में मुख्य प्रश्न उठता

है कि क्या क्षणिकता, प्रतीत्य-समुत्पाद आदि नियम निर्वाण पर भी लागू होते हैं ? यदि हाँ तो यह व्यावहारिक अनुभव से किस प्रकार भिन्न है ? अनुभव के आधार पर तार्किक दृष्टि से जब हम इसे समझने का प्रयास करते हैं तब हमें यह मानना ही होता है कि यह स्थिति अवर्णनीय किन्तु आनन्दमयी चैतन्य-स्थिति है जहाँ भेद तथा परिवर्तन का अभाव होता है। इस स्थिति को मानने के पश्चात् प्रश्न उठता है कि इस पारमार्थिक स्थिति तथा व्यावहारिक स्थिति को आपस में कैसे सम्बन्धित किया जाए ? जैसा हम ऊपर संकेत कर चुके हैं, इसके दो भिन्न स्तरों के अनुसार दो विचारधाराएँ विकसित हुई हैं, पहली उन दार्शनिको की, जो व्यावहारिक विज्ञान को असत् या केवल व्यावहारिक सत् मानते हैं। माध्यमिक तथा अद्वैत वेदान्त इस श्रेणी मे आते हैं तथा दूसरी श्रेणी में श्री अरविन्द का दर्शन आता है।

पहले दृष्टिकोण के विभिन्न प्रतिपादकों में कई बिन्दुओं पर मतभेद होते हुए भी ज्ञान-मीमांसा की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर लक्षित नहीं होता। अतः शांकर वेदान्त को इस मत का प्रतिनिधि मानकर ही हम यहाँ पर विचार करेंगे।

न तो बौद्ध और न वेदान्ती ही हमारे व्यावहारिक ज्ञान को अन्तिम अथवा पारमार्थिक सत् मानते हैं। माध्यमिक बौद्धों ने ज्ञान में निहित तार्किक कठिनाइयों की बड़े विस्तार से चर्चा की है। 'विग्रह व्यावर्तनी'[1] में नागार्जुन वस्तुवादियों से पूछते हैं कि प्रमाण का ज्ञान किस प्रकार होता है ? यदि इसके उत्तर में कहा जाए कि प्रमाण के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है तब वे स्वयं अपने मत को ही खण्डित करेंगे, क्योंकि उनका मत है कि बिना प्रमाण के कोई भी वस्तु नहीं जानी जा सकती, फिर प्रमाण ही बिना प्रमाण के कैसे जाना जा सकता है ? इसके अतिरिक्त, यदि वे कहें कि एक प्रमाण दूसरे प्रमाण से ज्ञात होता है तब इसमें अनवस्था दोष होगा, क्योंकि दूसरे प्रमाण के लिए फिर अन्य प्रमाण का प्रश्न उठेगा तथा इसका अन्त कहीं भी नहीं आयेगा। प्रमाण के ज्ञान के साथ ही साथ इसके प्रामाण्य का भी प्रश्न उपस्थित होता है। किसी भी प्रमाण का प्रमाणीकरण कैसे सम्भव है ? यदि इसका प्रामाण्य सम्भव नहीं है तब यह बताना होगा कि जब समस्त ज्ञान का प्रामाण्य किसी न किसी प्रकार सिद्ध होता है तब प्रमाण के ही प्रामाण्य की आवश्यकता क्यों नहीं है ? अन्य विषयों की भाँति प्रमाण भी भावात्मक वस्तु है तथा इसलिए दोनों के ही प्रामाण्य की समान रूप से आवश्यकता है। यहाँ पर यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि वस्तुवादी दार्शनिक जिस विधि से अन्य ज्ञान का प्रमाणीकरण संभव मानते हैं उस विधि से प्रमाण का प्रमाणीकरण सम्भव नहीं हो सकेगा [illegible]

इस पर सम्भवतः वस्तुवादी कहेंगे कि जिस प्रकार अग्नि अन्य के साथ-साथ

1. विग्रह व्यावर्तनी : कारिका 31–50.

स्वयं को भी प्रकाशित करती है उसी प्रकार प्रमाण विषय के साथ-साथ स्वयं को भी प्रकाशित करता है। इस प्रकार उन सब कठिनाइयों का समाधान हो जाता है जिनकी हमने अभी चर्चा की है। किन्तु इस पर नागार्जुन का तर्क है कि यह अग्नि का उदाहरण ठीक नही है। प्रथम तो इस प्रकार के सादृश्य से युक्ति स्वयं में ही बड़ी निर्बल युक्ति है अत यह किसी भी निष्कर्ष को बलपूर्वक स्थापित नही करती। किन्तु यदि इस प्रकार की युक्ति को मान भी लिया जाए तब भी इसमे अनेक कठिनाइयाँ हैं। अग्नि के बारे में भी यह नही कहा जा सकता कि वह अपने-आपको प्रकाशित करती है। जिस प्रकार घट के लिए हम कह सकते हैं कि अन्धेरे में वह अप्रकाशित रहता है, उसी तरह अग्नि के बारे में हम नहीं कह सकते कि वह अन्धेरे मे अप्रकाशित रहती है। क्योंकि अग्नि की अप्रकाशित अवस्था होती ही नहीं है अतः यह नहीं कहा जा सकता कि अग्नि अपने-आपको स्वयं प्रकाशित करती है।

यदि अग्नि को स्वयंप्रकाश मानें तो यह भी मानना होगा कि अग्नि अपने-आपको जलाती भी है। किन्तु इसका अर्थ होगा कि कारण अपना व्यापार स्वयं के ऊपर ही करता है, जो कि सम्भव नहीं है। एक वस्तु अपने कारण ही क्रिया किसी दूसरी वस्तु पर करती है स्वयं पर नहीं। इसके अतिरिक्त ज्ञाता तथा ज्ञेय कभी एक नहीं हो सकते, उनमें संख्यात्मक भिन्नता अवश्य होनी चाहिए। अग्नि के उदाहरण के आधार पर तो हम यह भी कह सकते हैं कि फिर तो अन्धकार भी अपने-आपको ढँक लेगा तथा उसका तो फिर प्रकाशन ही असम्भव होगा तथा ऐसी अवस्था में अन्धकार के ज्ञान की ही सम्भावना समाप्त हो जाएगी।

नागार्जुन आगे पूछते हैं कि प्रकाशित करने का क्या अर्थ है? इसका अर्थ यही है कि जो वस्तु अप्रकाशित अथवा अन्धकार में थी, उस अन्धकार को दूर कर वह अब प्रकाशित हुई। क्योंकि अग्नि में कभी अन्धकार था ही नहीं इसलिए यह कहने का कोई अर्थ नहीं है कि अग्नि अपने-आपको प्रकाशित करती है।

कोई वस्तु ज्ञात हुई, इसका अर्थ है कि वह पहले अज्ञात थी। अर्थात् पहले अज्ञान था, यह ज्ञान से दूर हुआ। किन्तु ज्ञान तथा अज्ञान तो प्रकाश एवं अन्धकार की भाँति दो विरोधी तत्त्व हैं जो कभी एक-साथ नही रह सकते। अज्ञान को दूर करने के हेतु ज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि वह उस पर कार्य करे तथा इस कार्य को करने के लिए उनका सम्पर्क आवश्यक है। इस प्रकार चाहे एक क्षण के लिए ही हो, उन दोनों का एक-साथ रहना आवश्यक होगा, जो असम्भव है। प्रकाश तथा अन्धकार, ज्ञान तथा अज्ञान एक-साथ कभी नहीं रह सकते और इसीलिए ज्ञान अज्ञान को दूर भी नहीं कर सकता। इस प्रकार ज्ञान उत्पन्न होने की सम्भावना मे ही तार्किक विरोध है। यदि तर्क के लिए यह मान भी लिया जाय कि बिना सम्पर्क

के ही ज्ञान अज्ञान को दूर करता है, तब इसमें एक अन्य कठिनाई उत्पन्न होती है ' इस अवस्था में फिर एक ही ज्ञान को समस्त अज्ञान को दूर कर देना चाहिए था, जो नहीं होता है।

यदि प्रमाण का प्रमेय के साथ आवश्यक सम्बन्ध होता है तथा प्रमाण कभी भी प्रमेय को प्रकाशित किए बिना नहीं रह सकता तब यह मानना अयुक्त है कि प्रमाण प्रमेय को प्रकाशित करता है। प्रमेय को प्रकाशित करने के लिए प्रमाण की पूर्व सत्ता मानना आवश्यक है। यदि दो सत्ताएँ ऐसी हैं कि एक के ऊपर दूसरी की निर्भरता है, तो जिस पर दूसरी की निर्भरता है उसकी पूर्व सत्ता आवश्यक है क्योंकि असत् वस्तु पर कभी किसी की निर्भरता नहीं हो सकती। इसके विपरीत, यदि प्रमाण को प्रमेय के आश्रित मानें तब यह कहना सर्वथा अनुपयुक्त होगा कि प्रमेय प्रकाशित होने के लिए प्रमाण पर निर्भर होते हैं या प्रमाण प्रमेय को प्रकाशित करता है। ऐसी अवस्था में तो फिर प्रमाण की अवधारणा ही खटाई में पड़ जाएगी। इन दोनों विकल्पों से बचने के लिए यदि तीसरे विकल्प के रूप में हम यह कहें कि प्रमाण तथा प्रमेय एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं तथा न प्रमाण प्रमेय से सिद्ध होता है और न प्रमेय प्रमाण से, तब इस अवस्था में प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं है। प्रमाण का एकमात्र कार्य प्रमेय को सिद्ध करना है। यदि सत्ता की दृष्टि से प्रमेय प्रमाण पर तथा प्रमाण प्रमेय पर आश्रित मानेंगे तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। इस प्रकार का कथन उसी प्रकार अनुपयुक्त होगा जिस प्रकार यह कहा जाए कि पुत्र अपने पिता का पिता है। इसमें यह कहना ही कठिन होगा कि किसने किसको उत्पन्न किया।

इन सब तर्कों के आधार पर अन्त में[1] नागार्जुन अपने निष्कर्ष को प्रस्तुत करते हैं कि प्रमाणों की सिद्धि तथा उत्पत्ति न तो अपने-आप हो सकती है और न किसी अन्य से ही यह सम्भव है। और इस प्रकार सर्वथा असिद्ध तथा अनुत्पन्न होने के कारण ज्ञान की धारणा ही मिथ्या है।

इसी प्रकार शंकर तथा उनके अनुयायी भी हमारे व्यावहारिक ज्ञान में अन्तर्निहित तार्किक कठिनाइयों की ओर बार-बार संकेत करते हैं। इनका मुख्य तर्क है कि हमारा व्यावहारिक ज्ञान सदैव त्रिपुटीयुक्त होता है तथा उसमें ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान का भेद सदैव बना रहता है। उनका तर्क है कि जहाँ पर द्वैत होता है वहीं उन दो के बीच सम्बन्ध स्थापित करने में सदैव अनवस्था का दोष होता है। ज्ञाता को ज्ञान से सम्बन्धित करने के लिए सम्बन्ध नामक तीसरी सत्ता को स्वीकार करना होगा तथा फिर समस्या उठेगी कि ज्ञाता को उस सम्बन्ध के साथ कैसे सम्बन्धित किया जाय? इसके लिए फिर से अन्य सम्बन्ध की कल्पना करनी होगी तथा इस क्रम का कभी अन्त ही नहीं आयेगा।

1. विग्रह व्यावर्तनी : कारिका 51

अद्वैत वेदान्तियों का व्यावहारिक ज्ञान को पारमार्थिक सत् न मानने का दूसरा कारण है उनका सत्य का निर्धारक मानदण्ड। अद्वैत वेदान्ती अबाधितता को सत्य के मानदण्ड के रूप मे स्वीकार करते हैं तथा अनुभव तथा शास्त्रों के अनुसार इस द्वैत रूपी व्यावहारिक ज्ञान का बाध ब्रह्म-स्थिति में हो जाता है। इसके साथ ही, जहाँ पर द्वैत हो वहाँ पर यदि बाध न भी हो तो भविष्य मे उसके बाध होने की सम्भावना तो बनी ही रहती है। इसलिए द्वैत के क्षेत्र मे किसी भी ज्ञान को अन्तिम रूप से सत्य नही माना जा सकता। अद्वैत में बाध की यह सम्भावना ही समाप्त हो जाती है, क्योंकि जहाँ एक ही है वहाँ किसका किसके द्वारा बाध होगा?

प्राय इस प्रकार के व्यावहारिक ज्ञान को, जो अन्तिम रूप से सत् नही माना जा सकता, प्रतीति रूप कहा गया है। किन्तु तब प्रश्न उठता है कि यह किस की प्रतीति है? क्या प्रतीति का अपने-आप में कोई अर्थ है? क्या प्रतीति बिना किसी पारमार्थिक सत् के, जो उस प्रतीति का अधिष्ठान या आधार है, सम्भव है? इस प्रश्न का प्रथम उत्तर माध्यमिकों का-सा हो सकता है जो यह मान सकते हैं कि हाँ, प्रतीति बिना आधार के भी सम्भव है। माध्यमिक तर्कों से ऐसा ही कुछ लगता भी है। माध्यमिक अपने तीदण तर्कों द्वारा हमारे व्यावहारिक ज्ञान के तार्किक विरोध को दर्शाते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि यह सब असत् या प्रतीति मात्र है। साथ ही, बौद्धों के अनात्मवाद, क्षणिकवाद तथा प्रतीत्य-समुत्पाद के सिद्धान्त को वे अन्ततः भी सत् मानते हों तो उन्हें किसी शाश्वत पारमार्थिक सत्ता को भी अस्वीकार करना चाहिए। यदि तर्क के द्वारा व्यावहारिक जगत् की ही स्थापना नही हो सकती तब पारमार्थिक सत्ता की स्थापना भी तर्क के द्वारा कैसे हो सकती है? उन्होंने स्वयं भी स्पष्टतः पारमार्थिक सत्ता को तर्क तथा बुद्धि से परे की वस्तु माना है। केवल अनुभव के आधार पर ही उसकी स्थापना हो सकती है, ऐसा वे मानते हैं। किन्तु फिर अनुभव के आधार पर तो व्यावहारिक जगत की भी स्थापना होती ही है। ऐसी अवस्था मे उन्हें अचिन्त्य अनुभववादी होकर यह कहना चाहिए था कि हमें प्रतीत्य-समुत्पादित क्षणिक वस्तुओं का ज्ञान रूप मे अनुभव होता है तथा यह ज्ञान तर्क की कसौटी मे विरोधात्मक सिद्ध होने के कारण असत् रूप स्वीकार किया जाना चाहिए। इस प्रकार, माध्यमिक वास्तव में शून्यवादी होने। इस प्रकार के दर्शन में अपनी कठिनाइयाँ होते हुए भी यह मत एक मौलिक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक दृष्टिकोण के रूप मे विकसित हो सकता था तथा तब यह दर्शन भारतीय चिन्तन को अधिक समृद्ध करता। किन्तु उन्होंने वह नहीं किया जो करना चाहिए था। उन्होंने शून्य की भावात्मक व्याख्या कर निर्वाण को पारमार्थिक सत् के रूप मे स्वीकार किया। वे भी उसी निर्वाण के लोभ में अपनी एक मौलिक दार्शनिक दृष्टि खो बैठे। उन्होंने भी

समस्त व्यावहारिक ज्ञान का आधार पारमार्थिक सत्ता को मान लिया और ऐसी अवस्था में इस दर्शन का अद्वैत वेदान्त से कोई मौलिक मतभेद नहीं रह गया।

शंकर निश्चित रूप से इस प्रश्न का उत्तर उपर्युक्त संभावित उत्तर से भिन्न रूप में देते हैं। वे शुद्ध चैतन्यवादी दार्शनिक हैं तथा इसलिए चैतन्य के अतिरिक्त किसी भी अन्य तत्त्व की सत्ता उन्हें स्वीकार्य नहीं है। उनके अनुसार मेज का अर्थ है चैतन्य का ही मेज रूप मे भासित होना, अर्थात् मेज-चैतन्य। इस प्रकार उनकी मान्यता है कि हमारा समस्त व्यावहारिक जगत् नाम-रूप-उपहित चैतन्य ही है। स्वर्ण को जब एक विशेष आकार देकर नाम विशेष से पुकारते हैं तब वह कुण्डल-कंगन आदि आभूषण कहा जाता है। कंगन, कुण्डल आदि रूप विशेष तथा नाम-विशेष लिये हुए स्वर्ण ही हैं। किन्तु नाम-रूप की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। वे सदैव उस वस्तु के आश्रय से रहते हैं जिनके वे नाम रूप हैं। साथ ही इन नाम-रूपों का वस्तु के स्वरूप पर कोई प्रभाव नही पड़ता। उदाहरणत. महाकाश घटाकाश-मठाकाश रूप मे भासित होते हुए भी स्वरूपत. कूटस्थ है तथा व्यावहारिक जगत् की उपाधियाँ उसे किसी भी प्रकार से विकृत नहीं करती। साथ ही ये नाम रूप स्वयं मे अवस्तु रूप हैं। इसका कारण है कि शंकर के अनुसार वस्तु का स्वरूप है उसका कभी भी नष्ट न होना। गीता के इस सिद्धान्त से कि जो असत् है उसका कभी भाव अथवा अस्तित्व नही हो सकता तथा जो सत् है उसका कभी अभाव नही हो सकता उनकी पूर्ण सहमति है। अब प्रश्न है कि जब कोई कार्य-रूप परिच्छिन्न वस्तु नष्ट होकर अपने कारण मे लीन होती है तब उसके नाम-रूप का क्या होता है? क्या तब भी वह नाम-रूप किसी प्रकार रक्षित हुआ कहा जा सकता है? इसका उत्तर वे निषेधात्मक रूप मे देते हैं इसीलिए कार्य-भूत नाम-रूप वाली वस्तु उनके अनुसार प्रतीति अथवा असत् है।

किन्तु यहाँ पर प्रश्न उठता है कि ये समस्त उपाधियाँ प्रतीति मात्र अथवा असत् हैं तो इनकी सत्ता आई कहाँ से? इनकी प्रतीति ही किस प्रकार सम्भव है? इसका उत्तर देते हुए शंकर कहते हैं कि जब रज्जु के ऊपर सर्प आरोपित होता है तो यह आरोपित सर्प वास्तव में स्मृति रूप होता है। पहले कभी हमने सर्प को देखा था तथा वह स्मृति रूप से हमारे अन्दर विद्यमान होता है। वही स्मृति रूप पदार्थ यहाँ वास्तविक रूप मे दिखलाई देता है। ठीक इसी प्रकार अनादि काल से अविद्या के कारण हम विभिन्न व्यावहारिक वस्तुओं को देखते आए हैं तथा संस्कारों के रूप में वे अनुभव हमारी स्मृति में विद्यमान रहते हैं तथा वे संस्कार ही हमारे व्यावहारिक ज्ञान के कारण हैं। मूल रूप में यह व्याख्या योगाचारों की व्याख्या से भिन्न नहीं है। वे भी कर्म फल विपाक के रूप में ही हमारे अनुभव विशेष को समझने का प्रयास करते हैं। बल्कि योगाचार व्याख्या अद्वैत वेदान्त की व्याख्या से अधिक समुचित

प्रतीत होती है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार स्मृति रूप होने से हमारा वर्तमान अनुभव हमारे पूर्व अनुभव से भिन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार ज्ञान में जो नवीनता तथा विकास होता है उसकी व्याख्या अद्वैत वेदान्ती नहीं कर सकते, जबकि विज्ञानवादी इसकी सरलता से व्याख्या कर सकते हैं। कर्मों के फल के विपाक का कोई ऐसा गणित नहीं है जैसा स्मृति का है। प्राचीन कर्म नए कर्मों के मेल से कई विभिन्न प्रकार के ज्ञान को प्रेरित कर सकते हैं। वैसे भी बौद्धों के कार्य कारण सिद्धान्त के अनुसार कारण से कार्य भिन्न होता ही है जबकि अद्वैत वेदान्ती इस भिन्नता पर बल नहीं दे सकते।

किन्तु इतना होते हुए भी जब हम अद्वैत वेदान्त की ज्ञान-मीमांसा के अन्य पहलू पर दृष्टिपात करते हैं तो हमे इसका एक दूसरा ही रूप दिखलाई देता है। श्री धीरेन्द्र मोहन दत्त ने अपनी पुस्तक 'दी सिक्स वेज ऑफ नोइंग' मे वेदान्त परिभाषा के आधार पर बलपूर्वक कहा है कि अद्वैत वेदान्त की ज्ञान-मीमांसा वस्तुवादी है। वेदांत परिभाषा इस प्रकार का प्रभाव हमारे ऊपर छोड़ती भी है। धर्मराज कहते हैं कि (वास्तव में चैतन्य के एक होने पर भी उपाधि से) यह त्रिविध हो जाता है, प्रथम प्रमातृ चैतन्य, दूसरा प्रमाण चैतन्य तथा तीसरा विषय चैतन्य। अर्थात् एक ही चैतन्य उपाधियुक्त होकर ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय त्रिपुटीयुक्त प्रतीत होता है। इनमे विषय जिसकी उपाधि है वह विषय चैतन्य होता है, अंत.करण की उपाधि वाला प्रमातृ चैतन्य या ज्ञाता होता है तथा अंतःकरण की वृत्ति से उपाधियुक्त चैतन्य प्रमाण चैतन्य या ज्ञान संज्ञा वाला होता है। यहां तक योगाचार तथा अद्वैत वेदान्त में कोई अन्तर नहीं है। योगाचार भी स्वीकार करता है कि वास्तव में बाह्य जगत् का सर्वथा अभाव है तथा विज्ञा ही ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय रूप में भासित होता है। किन्तु यह व्याख्या वस्तुवादी व्याख्या नहीं कही जा सकती।

किन्तु जब हम धर्मराज की प्रत्यक्षादि की व्याख्या की ओर दृष्टिपात करते हैं तो हमें स्पष्ट लगता है कि वे वास्तव में वस्तुवादी ज्ञान-मीमांसा का ही विवेचन कर रहे हैं। तीनों प्रकार के चैतन्य की चर्चा करने के तुरन्त उपरान्त प्रत्यक्ष की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं कि जैसे तालाब का जल छेद से निकल कर नाली के रास्ते से होता हुआ खेतों में प्रविष्ट होता है और उसी के आकार का तिकोना, चौकोना या वर्तुलाकार बन जाता है, वैसे ही तैजस अंत.करण भी चक्षु श्रोत्रादि इन्द्रियों के द्वारा शरीर से बाहर निकल कर घटादि तक जाता है और घटादि विषयों के आकार में परिणत होता है। अंत:करण के इस परिणाम को ही वृत्ति कहते हैं।[1] यहां पर घटादि में जाने की बात हम केवल वस्तुवादी परिप्रेक्ष्य में ही

1. वेदान्त परिभाषा—प्रत्यक्ष प्रकरण

कर सकते हैं। यदि हम ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान तीनों को ही चैतन्य के ही विभिन्न रूप मानते हैं तब उपर्युक्त देश की चर्चा हम नहीं कर सकते। साथ ही जब वे प्रत्यक्ष तथा अनुमान मे भेद करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार प्रत्यक्ष में अंत करण विषय स्थल में जाता है उस प्रकार अनुमान में नही जाता। अनुमान में अंतःकरण तथा विषय एक ही देश में स्थित नही होते, तब उनका वस्तुवादी दृष्टिकोण और भी स्पष्ट हो जाता है तथा इसी सन्दर्भ में प्रत्यक्ष तथा अनुमान का यह भेद किया भी जा सकता है। यदि समस्त ज्ञान तथा ज्ञेय को चैतन्य रूप ही मान लें तब अनुमान तथा प्रत्यक्ष में भेद करना कठिन हो जाएगा। अनुमान भी उसी प्रकार चैतन्य का रूप होगा जिस प्रकार प्रत्यक्ष तथा चैतन्य रूप होने से दोनों ही अपरोक्ष तथा साक्षात् होंगे। चूँकि अद्वैत वेदान्त की तत्त्व-मीमांसा मूल रूपेण विज्ञानवादी ही है, अतः इस प्रकार की वस्तुवादी ज्ञान-मीमासा हमारी प्रतीति रूप व्यावहारिक ज्ञान का वर्णन तो अवश्य माना जा सकता है, कि हमे ऐसा लगता है, किन्तु उसकी व्याख्या यह कदापि नही मानी जा सकती।

यहाँ पर अद्वैत वेदान्ती अपनी तत्त्व-मीमांसा की शरण लेकर कह सकते हैं कि यह बाह्य जगत् ईश्वर द्वारा रचित है। बौद्ध विज्ञानवादी इस प्रकार की किसी सत्ता को अपने दर्शन में स्थान नहीं दे सकते थे इसलिए उन्हे व्यक्ति के समस्त अनुभव उसकी अपनी अविद्या के फल रूप मानने होते हैं जबकि अद्वैत वेदान्त के अनुसार व्यावहारिक ज्ञान ईश्वर द्वारा रचित वस्तुओं को सत्य रूप से प्रकाशित करता है। बाह्य जगत् हमारी व्यक्तिगत अविद्या द्वारा आरोपित नहीं है वरन् ईश्वर द्वारा आरोपित है, इसलिए विज्ञान रूप में ही सही, हमसे बाहर अवश्य है। अस्तु, धर्मराज द्वारा प्रस्तुत ज्ञान की वस्तुवादी व्याख्या में किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

इसके उत्तर में प्रथम तो यदि यह मान भी लिया जाय कि यह समस्त जगत् ईश्वर का संकल्प है तब भी धर्मराज की तरह वस्तुवादियों की भाषा में ज्ञान की व्याख्या हम अद्वैत वेदान्त दर्शन में नहीं कर सकते। जगत् ईश्वर का ही सही, है तो संकल्प ही। तथा संकल्प चैतन्य रूप होने से, इसके अनुरूप जगत् में हम देश की बात नहीं कर सकते। चैतन्य कभी भी देश में नहीं होता। दूसरे आखिर शंकर ने ईश्वर आदि की कल्पना इस संदर्भ में क्यों की? संभवतः केवल इसलिए कि जगत् का जो यह समान रूप में अनुभव होता है उसकी रक्षा हो जाए। जिस प्रकार जादूगर अपनी संकल्प शक्ति से सभी उपस्थित लोगों के लिए समान ज्ञान उत्पन्न कर देता है तथा वे सभी समान रूप से उस वस्तु को वास्तविक जैसी ही देखते हैं, उसी प्रकार ईश्वर अपनी संकल्प शक्ति से यह समस्त जगत् सभी लोगों को समान रूप से दर्शाता है। ईश्वर की यह कल्पना शंकर दर्शन में कई कठिनाइयाँ उत्पन्न करती

है। किन्तु इसी समस्या को योगाचार दर्शन ने बिना किसी इस प्रकार की सत्ता को स्वीकार किए अधिक सरलता से सुलझाया है। उनका कहना है कि समान ज्ञान का होना समान कर्म-फल विपाक के कारण है। विज्ञप्ति मात्रता सिद्धि में वसुबंधु ने इस प्रकार उठाए गए सभी प्रश्नों का भली प्रकार उत्तर दिया है जिसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। यह स्पष्ट है कि बाह्य स्थित किसी भी वस्तु का ज्ञान सभी व्यक्तियों को समान रूप से नहीं होता और न ही वह सभी मनुष्यों को पूर्णरूपेण भिन्न प्रकार से ही होता है। एक ही वस्तु के विभिन्न लोगों को हुए ज्ञान में अवश्य ही कुछ समानता तथा कुछ असमानता रहती है। शंकर की वस्तुवादी व्याख्या यदि पूर्णरूपेण स्वीकार कर ली जाए तब यह प्रश्न उठेगा कि तब तो सभी लोगों को बाहर की वस्तु का भास बिल्कुल समान रूप से होना चाहिए था जो नहीं होता। यहाँ पर शंकर मतावलंबी यह कह सकते हैं कि ज्ञान में बाह्य वस्तु ही एक मात्र हेतु नहीं है, अन्य भी हेतु हैं। ज्ञान में केवल विषय सापेक्षता नहीं है, ज्ञाता सापेक्षता भी है तथा इन अन्य हेतुओं में भेद होने के कारण विभिन्न व्यक्तियों के ज्ञान में भेद होता है। किन्तु शंकर दर्शन में प्रत्यक्ष आदि की जो व्याख्या प्रस्तुत की गई है उसमें इस प्रकार के समाधान के लिए स्थान नहीं है। चैतन्य जब वस्तु देश में जाकर उसके आकार को ग्रहण करता है तब इसमें विभिन्नता के लिए स्थान कहाँ रहता है? योगाचार दर्शन में यह व्याख्या अति सुलभ है। किन्हीं भी दो व्यक्तियों के कर्म फल विपाक में कुछ समानता तथा कुछ भिन्नता हो सकती है। इनमे समानता के कारण उनका ज्ञान समान होता है तथा इनमे भिन्नता के कारण भिन्न।

वास्तव में अद्वैत वेदान्त में व्यावहारिक तथा पारमार्थिक सत्ता में कोई ताल-मेल नहीं बैठ पाया है। ये दोनों एक-दूसरे से अलग भिन्न सत्ताओं के रूप में दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि शंकर ने बारंबार कारण तथा कार्य की अभेदता पर बल दिया है, किन्तु वास्तव में उनकी यह अभेदता समस्या से बच निकलने का ही एक उपाय है। इससे समस्या के समाधान की ओर तनिक भी प्रगति नहीं होती, वह वैसी की वैसी ही बनी रहती है। कार्य का कारण से अभेद उसके पारमार्थिक तत्त्व को लेकर है। मठाकाश तथा महाकाश में आकाश रूप से अभेद है किन्तु मठ का आकार महाकाश के स्वरूप का अंग नहीं है। समस्त व्यावहारिक जगत् नाम रूप ही है तथा इस नाम रूप की पारमार्थिक दृष्टि से कोई सत्ता नहीं है। ऐसी अवस्था में यह कथन कि नाम रूप उत्पत्ति से पूर्व भी ब्रह्म में स्थित थे स्पष्ट विरोधाभास प्रतीत होता है। वास्तव में नाम रूपात्मक समस्त प्रपंच की सत्ता व्यावहारिक दृष्टि से ही है। पारमार्थिक दृष्टि से मात्र ब्रह्म की सत्ता है जिसमें नाम रूप के लिए कोई स्थान नहीं है। इसीलिए जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई, किससे हुई, किस प्रकार हुई, इसमे इसका कारण प्रभावित होता है अथवा नहीं, आदि प्रश्न पारमार्थिक दृष्टि से उठते ही नहीं। किन्तु

इस सबसे हमें अपने पूर्व निष्कर्ष पर ही पहुँचना पड़ता है कि अद्वैत वेदान्त में दो भिन्न-भिन्न सत्ताएँ हैं एक, पारमार्थिक तथा दूसरी. व्यावहारिक। व्यावहारिक सत्ता पारमार्थिक सत्ता के आश्रय से अवश्य स्थित है। इसकी सत्ता पारमार्थिक सत्ता के बिना सम्भव भी नहीं है, किन्तु फिर भी नाम रूप की दृष्टि से यह नाम पारमार्थिक सत्ता पर आश्रित मात्र है। यह अध्यास इसलिए है कि इनमे प्रकाश तथा अंधकार की भाँति आत्यंतिक विरोध है।

वस्तुतः जहाँ शंकर एक ओर शुद्ध वस्तुवाद की कठिनाइयों से परिचित थे वहीं उन्हें शुद्ध विज्ञानवाद की कठिनाइयों का भी स्पष्ट आभास था। इसीलिए उन्होंने इसके बीच का रास्ता अपनाना उचित समझा। एक ओर उन्होंने समस्त विश्व को ईश्वर चैतन्य के संकल्प रूप मे सत् मानकर वस्तुवाद की कठिनाइयों से बचना चाहा, वहीं दूसरी ओर समस्त जगद् को व्यक्ति की दृष्टि से बाह्य तथा स्वतन्त्र मानकर वस्तुवादी दृष्टिकोण से, ज्ञान की व्याख्या द्वारा, विज्ञानवादी कठिनाइयों से भी बच निकलना चाहा। किन्तु वे यह भूल गए कि दोनों ही प्रकार के दृष्टिकोण के प्रति आस्था के कारण दोनों की ही कठिनाइयों में भी वे फंस गए। जहाँ विज्ञानवादियों को केवल अपनी समस्याओं को हल करना था तथा वस्तुवादियों को मात्र अपनी, अद्वैत वेदान्त को दोनों ही प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उनकी ज्ञान मीमांसा में सर्वत्र हमें एक चाल नजर आती है। जब वस्तुवादी दृष्टिकोण से उनकी आलोचना की जाती है तो विज्ञानवादी दृष्टिकोण से उसका उत्तर दे वे बच निकलना चाहते हैं। पुनः जब विज्ञानवाद की कठिनाइयों की ओर उनको संकेत किया जाता है तो वे वस्तुवादी बन जाते हैं। उन्होंने वस्तुवादी बनकर विज्ञानवाद की आलोचना की तथा विज्ञानवादी बनकर वस्तुवाद की। उदाहरण के लिए, यह जानते हुए भी कि ज्ञान की किसी भी द्वैतवादी मीमांसा में अनवस्था प्रसंग होता है, उन्होंने अपनी ज्ञान मीमांसा को वस्तुवादी ही रखा तथा फिर भी अंततः उनका दर्शन विज्ञानवादी ही रहा।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि अद्वैत वेदान्त में इन दोनों दृष्टिकोणों में कोई तालमेल नहीं बैठ पाया है। ब्रह्म अपने स्वरूप में कूटस्थ है। किन्तु साथ ही साथ माया का उसके ऊपर आवरण भी है, जिससे कूटस्थ ब्रह्म को कुछ लेना देना नहीं। न ब्रह्म की दृष्टि से माया है और न माया की दृष्टि से ब्रह्म।

भाट्ट मीमांसकों ने अद्वैतवादी ज्ञान मीमांसा की कटु आलोचना की है। सर्वप्रथम उनका कहना है कि यदि हम बाह्य विषय की वास्तविकता को स्वीकार न कर केवल चैतन्य की ही सत्ता स्वीकार करें तब हमें यह भी आवश्यक रूप से स्वीकार करना होगा कि ज्ञान स्वयं प्रकाश है। इस मान्यता से वे यह कह कर नहीं बच सकते कि

ज्ञान में बाह्य विषय नहीं बल्कि अन्य चैतन्य प्रकाशित होता है क्योंकि ऐसा मानने पर यह दूसरा विषय चैतन्य, प्रथम ज्ञान चैतन्य से बाह्य तथा स्वतन्त्र होगा तथा ऐसी अवस्था में यह व्याख्या अद्वैतवादी न होकर द्वैतवादी ही होगी तथा इसमें वे सब कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी जो अन्य द्वैतवादी व्याख्या में उपस्थित हुई थी। इस प्रकार बाह्य विषय का अभाव मानने पर ज्ञान स्वयं अपने आपको ही प्रकाशित करता हुआ माना जाएगा। किन्तु इस पर कुमारिल की आपत्ति है कि ज्ञाता तथा ज्ञेय कभी एक नहीं हो सकते। जिस प्रकार पकाने की क्रिया अपने आपको नहीं पकाती, काटने की क्रिया अपने आपको नहीं काटती, अंगुली का अग्र भाग अपने आपको नहीं छू सकता उसी प्रकार ज्ञान भी अपने आपको नहीं जान सकता। ज्ञान निश्चित रूप से सकर्मक है तथा इसके लिए इससे भिन्न विषय होना आवश्यक है जिसे यह प्रकाशित करता है।[1]

दूसरे, यदि चैतन्य ही एक मात्र सत्ता है तथा वह अपने आपको ही जानता है तो हमारा ज्ञान 'यह नीला है' इस प्रकार न होकर 'मैं नीला हूँ' इस प्रकार का होना चाहिए जो नहीं होता है। हमारा ज्ञान सदैव परावृत्ति (बाहर की ओर उन्मुख) होता है, प्रत्यक्वृत्ति (अन्तः उन्मुख) नहीं।

धर्मराज ने वेदान्त परिभाषा के प्रत्यक्ष प्रकरण में इस आपत्ति का उत्तर दिया है। उनका कहना है कि ज्ञान का आकार उपाधि से निर्धारित होता है तथा जिस प्रकार की उपाधि होती है उसी प्रकार का ज्ञान भी उत्पन्न होता है। यदि उपाधि का रूप 'मैं मोटा हूँ' आदि प्रकार का होता है तो ज्ञान भी इसी प्रकार का होता है किन्तु यदि इसका रूप 'यह नीला है' इस प्रकार का होता है तो ज्ञान का भी यही रूप होगा।

किन्तु धर्मराज का उत्तर सन्तोषप्रद नहीं है। उनके अनुसार अन्तःकरण प्रमातृ-चैतन्य अथवा ज्ञाता रूप में उद्भासित होता है। अन्तःकरण का विषयाकार होना ज्ञान में प्रयोजक है। ऐसी दशा में ज्ञान की प्रत्येक स्थिति में ज्ञान का एक ही रूप होगा—अन्तःकरण का विषय रूप होना चाहे वह विषय शरीर हो अथवा मेज तथा इस प्रकार दोनों का ज्ञान एक ही प्रकार से होना चाहिए, विभिन्न रूप से नहीं। केवल अन्तःकरण का स्वयं का ज्ञान 'मैं ज्ञाता हूँ' इस प्रकार से हो सकता था।

गुणरत्न मिश्र काशिका में लिखते हैं कि हमारे सामान्य अनुभव की अवहेलना करते हुए विज्ञानवादी बाह्य विषय का निषेध कर यह कहते हैं कि ज्ञान ही ज्ञान को जानता है। उनका कहना है कि अपरोक्ष रूप से चेतना तो हमें ज्ञान की ही होती है। विषय भी तो ज्ञान के रूप में ही प्रकाशित हो सकता है। किन्तु यह बात ठि

1. श्लोक वार्तिक, शून्यवाद 64 पर पार्थसारथी का न्याय रत्नाकर

विषय प्रकाशन ज्ञान के द्वारा ही होता है ठीक होते हुए भी हमें यह नही भूल जाना चाहिए कि ज्ञान विषय को ही प्रकाशित करता है, अपने आपको नही । हमारा अनुभव इसका प्रमाण है । ज्ञान के आधार पर ही हम विभिन्न बाह्य विषयों में भेद करते हैं । कोई भी ज्ञान मिथ्या तभी कहा जा सकता है जब उसका विरोधी ज्ञान उत्पन्न हो तथा 'यह नीला है' इस ज्ञान का विरोध कभी भी 'मैं नीला हूं' इस प्रकार के ज्ञान द्वारा नहीं होता । अतः ज्ञान बाह्य विषय का ही होता है ऐसा ही मानना उचित है ।

कुमारिल श्लोकवार्तिक[1] में लिखते हैं कि यदि विज्ञानवादियो का यह दावा स्वीकार कर लिया जावे कि ज्ञान तथा ज्ञेय एक ही हैं तब इनमे से किसी भी एक का ज्ञान सदैव ज्ञान तथा ज्ञेय इन दोनों आकारों को लिए हुए होगा, जो कभी नही होता । कई बार केवल विषय ही प्रकाशित होता है किन्तु उसके साथ ज्ञान का प्रकाशन नही होता तथा इसी प्रकार, अनेक बार किसी ज्ञान का ही ज्ञान होता है, उसके विषय को हम भूल जाते हैं ।

कुमारिल के अनुसार विज्ञानवादी ज्ञान की स्वयं प्रकाशकता को स्मरण से अनुमानित करते हैं । जब मैं घट को जानता हूँ तब उसका रूप 'यह घट है' इस प्रकार का होता है किन्तु जब इसका स्मरण करता हूँ तो इसका रूप बदल कर 'मैं घट को जानता हूँ' अथवा 'मुझे घट का ज्ञान है' इस प्रकार का हो जाता है । स्मरण बिना पूर्वज्ञान के सम्भव नहीं होता । यदि विषय को जानते समय ज्ञान भी अपने आपको प्रकाशित नहीं करता तब उसका इस रूप में पुनः स्मरण का रूप भी 'यह घट है' इसी आकार का होना चाहिए था ।[2] इसके विपक्ष में कुमारिल का तर्क है कि वास्तव में विषय के ज्ञान में तथा स्मरण में दोनों मे ही ज्ञान का आकार 'यह घट है' इसी प्रकार का होता है । दोनों में विभिन्नता नही होती । वास्तव में, ज्ञान का ज्ञान अपरोक्ष रूप से न होकर परोक्ष रूप से अर्थापत्ति के द्वारा होता है । जब कभी हमे जिज्ञासा होती है—हम विषय को प्रकाशित होने के कारण के बारे मे विचार करते हैं और तब अर्थापत्ति द्वारा हमें ज्ञान का ज्ञान होता है ।

साथ ही यदि ज्ञान स्वप्रकाश होता तथा वह सदैव अपने आपको ही प्रकाशित करता तब विभिन्न प्रमाणों की बात नहीं की जा सकती थी । अनुमान प्रमाण की आवश्यकता तभी होती है जब विषय ज्ञान से स्वतन्त्र होता है तथा वह अपरोक्ष रूप से प्रकाशित नहीं होता । चूंकि सभी विज्ञानवादी प्रत्यक्ष के साथ-साथ अनुमान को भी प्रमाण मानते हैं, उन्हें बाह्य विषय की स्वतन्त्र सत्ता को भी अवश्य ही स्वीकार करना चाहिए ।

1. शून्यवाद 83-85 ।
2. वार्तिका पृष्ठ 120

पार्थसारथी[1] के अनुसार विज्ञानवादियों का दावा है कि लाघव का सिद्धान्त उनके मत की पुष्टि करता है। लाघव के सिद्धान्त के अनुसार जब हम बिना बाह्य विषय को माने ही हमारे अनुभव की व्याख्या कर सकते हैं, तब बाह्य विषय को मानने की क्या आवश्यकता है ? किन्तु इस पर पार्थसारथी का कहना है कि विज्ञानवादियों का यह दावा वास्तव में गलत है। बाह्य विषय मान्यता के विषय नहीं हैं। उनका अपरोक्ष रूप से अनुभव होता है।

विज्ञानवादियों का अपने पक्ष मे एक मुख्य तर्क यह है कि विषय उसके ज्ञान के साथ ही ज्ञात होता है। ज्ञान विषय को प्रकाशित करने का साधन है। ऐसी अवस्था में यदि विषय तथा ज्ञान भिन्न-भिन्न होते तो पहले ज्ञान का ज्ञान होना चाहिए या फिर विषय का। चूँकि ऐसा न होकर दोनों एक साथ ही ज्ञात होते हैं, दोनों में अभेद है तथा इसलिए बाह्य वस्तु की सत्ता नहीं है। इस पर पार्थसारथी[2] का कथन है कि वास्तव में ज्ञान तथा विषय एक साथ प्रकाशित नहीं होते। पहले हमें विषय का ही ज्ञान होता है तथा बाद मे विचार करने पर अर्थापत्ति के द्वारा हमें ज्ञान का ज्ञान होता है। उनका तर्क है कि यह तनिक भी आवश्यक नहीं है कि साधन का ज्ञान साध्य के पूर्व अथवा साथ ही साथ हो। हाँ, उनकी सत्ता अवश्य साध्य से पूर्व अथवा कम-से-कम साथ साथ होनी चाहिए। कई बार किसी वस्तु की सत्ता होने पर भी उपयुक्त प्रमाण के अभाव मे उसका ज्ञान नहीं होता किन्तु इतने मात्र से उसकी सत्ता का निषेध नहीं किया जा सकता। यही बात ज्ञान तथा उसके विषय के बारे में है। हमारे अनुभव में पहले विषय प्रकाशित होता है तथा उस समय हमें ज्ञान का कोई ज्ञान नहीं होता। यह विषय किसी ज्ञान के द्वारा ही प्रकाशित हो सकता था अत. *निश्चित रूप से ज्ञान का भी अस्तित्व है।* इस प्रकार, अर्थापत्ति द्वारा परोक्ष रूप में ज्ञान का ज्ञान होता है।

विज्ञानवादी अपने पक्ष में एक अन्य प्रमाण यह भी देते हैं कि यदि वस्तुवाद सत्य होता तथा इस सिद्धान्त के अनुसार यह माना जाता कि बाह्य वस्तुओं की वास्तविक सत्ता है तथा ज्ञान उन्हें प्रकाशित मात्र करता है तब सभी मनुष्यों को सदैव एक वस्तु का उसी रूप मे ज्ञान होना चाहिए था। ज्ञान की विविधता के लिए तब कोई स्थान नहीं होता। किन्तु ऐसा वास्तव में होता नहीं है। एक ही स्त्री एक व्यक्ति को अत्यन्त सुन्दर रमणी के रूप में दिखलाई देती है, दूसरे को माता के रूप में तथा तीसरे को शव मात्र रूप मे प्रतीत होती है।

इस पर पार्थसारथी का तर्क है कि एक ही वस्तु मे अनेक गुण एक साथ विद्यमान

1. न्याय रत्नाकर
2. न्याय रत्नाकर पृष्ठ 179-186

रहने में कोई विरोध नहीं है तथा विभिन्न व्यक्ति अपनी रुचि तथा परिस्थिति के अनुसार उस एक ही वस्तु के अलग-अलग पहलुओं पर ध्यान देकर उसे भिन्न-भिन्न रूप में देख सकते हैं। इस, प्रकार, एक ही वस्तु के ज्ञान की विविधता से बाह्य वस्तु असत् सिद्ध नहीं हो जाती। उनका कहना है कि यदि बाह्य वस्तु नहीं होती तो कोई व्यक्ति धन को भी सुन्दर नारी के रूप में देख सकता था तथा भूखा कुत्ता पत्थर के टुकड़े को मांस-पिंड समझ उससे अपनी क्षुधा शान्त कर सकता था। किन्तु ऐसा नहीं होता है, अतः ज्ञान में बाह्य विषय ही प्रकाशित होता है।

पार्थसारथी आगे कहते हैं कि कुछ उदाहरण इस बात को स्पष्ट कर देंगे कि ज्ञान तथा उसका विषय, एक नहीं भिन्न-भिन्न है। ज्ञान तथा अज्ञान में आत्यंतिक विरोध है। दोनों का आकार एक नहीं हो सकता। किन्तु हमें अज्ञान का ज्ञान तो होता ही है। इसी प्रकार, हमें वस्तुओं की स्थायी पदार्थों के रूप में ज्ञान होता है, जब कि ज्ञान क्षणिक होता है। इस प्रकार इन दोनों में भी भिन्नता स्पष्ट है। तथा इससे विज्ञानवादियों का यह, सिद्धान्त कि ज्ञान तथा विषय में अभेद है गलत सिद्ध होता है।

अन्त में, भाट्टों का तर्क है कि किसी भी प्रमाण में बाह्य विषयों का अनस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है। प्रत्यक्ष से बाह्य विषय का अस्तित्व ही सिद्ध होगा, अनस्तित्व नहीं। शेष सभी प्रमाण प्रत्यक्ष पर ही आधारित हैं अतः उनके द्वारा भी इनका अनस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। हमारा समस्त व्यवहार, यहाँ तक कि यह विवाद बाह्य विषय की सत्ता को मानकर ही सम्भव है। अन्यथा, किसके प्रति ये सब तर्क किए जा रहे हैं। विज्ञानवाद को स्वीकार कर लेने पर समस्त धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का भेद मूल्यहीन हो जाता है।

शुद्ध विज्ञानवाद के आधार पर जागृत तथा स्वप्न में भी प्रामाण्य भेद नहीं किया जा सकता। दोनों ही विज्ञान हैं तथा फिर किस आधार पर जागृत के अनुभव को सत्य तथा स्वप्न को असत् कहा जा सकता है। इसके विपरीत इन दोनों अनुभवों को एक ही स्तर का मान लेने पर यह जगत् भी स्वप्नवत् ही होगा। स्वप्न में हमें अपने किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कोई पुरुषार्थ नहीं करना होता, केवल सो जाना पड़ता है। इस प्रकार, सब प्रकार के पुरुषार्थ की हानि होगी। वास्तव में कोई भी मनुष्य किसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए यह उपाय नहीं अपनाता और न ही स्वप्न के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य इतना प्रयास करता है। स्वप्न तथा जागृत में भेद अत्यन्त स्पष्ट है, इसे किसी भी प्रकार झुठलाया नहीं जा सकता और इसीलिए विज्ञानवाद दूषित है।

□ □ □

2

प्रमा का स्वरूप

यह सर्वविदित है कि हमारा समस्त ज्ञान सत्य नहीं होता। कभी हमारा ज्ञान असत्य भी होता है। जब हम रज्जु के स्थान पर सर्प होने का विश्वास करते हैं तो हमारा सर्प सम्बन्धी ज्ञान सत्य न होकर असत्य ही होता है। सत्य ज्ञान को प्रमा तथा असत्य ज्ञान को अप्रमा कहा जाता है। यह बात यों तो सामान्य तथा सरल प्रतीत होती है, किन्तु जब हम गहराई से प्रमा के लक्षण पर विचार करते हैं तो अन्य सभी दार्शनिक समस्याओं की भाँति यह प्रश्न गम्भीर एवं जटिल सिद्ध होगा। विभिन्न दार्शनिकों ने प्रमा के लक्षण को जैसा समझा है, उनमें पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। प्रमा को परिभाषित करते समय वे अपनी समग्र दार्शनिक दृष्टि से अत्यधिक प्रभावित हुए हैं। वास्तव में किसी भी दार्शनिक समस्या पर एकांगी रूप से विचार किया भी नहीं जा सकता। विभिन्न दार्शनिक समस्याएँ जाल की भाँति परस्पर उलझी हुई रहती हैं तथा किसी समस्या का विशिष्ट हल अन्य समस्याओं को भी प्रभावित करता है। अतः सभी अन्य दार्शनिक समस्याओं की भाँति प्रमा का स्वरूप निर्धारित करना भी काफी जटिल समस्या प्रतीत होती है।

प्रभाकर ज्ञान-मीमांसा तथा तत्त्व-मीमांसा दोनों ही क्षेत्रों में कट्टर वस्तुवादी हैं। उनकी मान्यता है कि हमारे ज्ञान के विषय स्वतन्त्र रूप से सत्तावान हैं तथा हमारा ज्ञान उन्हें प्रकाशित मात्र करता है। हमारे ज्ञान में जो विषय हमें प्रकाशित प्रतीत होते हैं वही उनका वास्तविक रूप है। इस प्रकार के दर्शन को हम कट्टरतापूर्वक स्वीकार करें तो हम देखेंगे कि ऐसे दर्शन में वास्तव में भ्रम के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता।[1] इस प्रकार के वस्तुवादी दर्शन में भ्रम की समुचित व्याख्या असम्भव है। परन्तु, यदि प्रभाकर मीमांसक अपने दर्शन के अनुकूल प्रतिपादित करते हैं कि वास्तव में सभी ज्ञान प्रमा रूप ही है, तो यह उनकी दृष्टि से ठीक ही है। उनके अनुसार ज्ञान इकाई रूप न होकर दो ज्ञानों का मिश्रित रूप होता है। जब मैं यह कहता हूँ कि 'यह सर्प है' तब इस ज्ञान में वास्तव में दो विभिन्न ज्ञानों का समावेश होता है। पहले ज्ञान का स्वरूप 'यह' तथा दूसरे का 'सर्प' होता है। ये दोनों ज्ञान अपने में सदैव प्रमा रूप होते हैं। 'यह' का ज्ञान सदैव 'यह' के आकार का ही होता है

1. गंगानाथ झा : प्रभाकर स्कूल ऑफ पूर्व-मीमांसा पृ० 23.33।

अन्यथा नहीं होता तथा 'सर्प' का ज्ञान भी सदैव 'सर्प' रूप ही होता है। इसीलिए अलग-अलग रूप से यह 'यह' का ही ज्ञान कराता है तथा सर्प 'सर्प' का ही। इनमें अन्यथा कल्पना करना विरोधाभास है। प्रभाकर कहते हैं कि यह कैसे सम्भव है कि कोई भी ज्ञान किसी विषय को प्रकाशित भी करे तथा वह असत्य भी हो ?[1] सर्प का ज्ञान सदैव सर्प-रूप होने से सत्य ही होगा। भ्रम का कारण वास्तव मे भावात्मक न होकर अभावात्मक होता हैं। भ्रम कहलाने वाले स्थल मे 'यह सर्प है' इस उदाहरण में 'यह' तथा 'सर्प' के भेद को ग्रहण नहीं करते। 'यह' यहाँ पर प्रत्यक्ष का विषय है तथा 'सर्प' स्मृति का तथा इन दोनों विभिन्न ज्ञानों में भेद न करना ही भ्रम का कारण है।

प्रभाकर के भाष्यकार शालिक नाथ ने इसीलिए स्मृति से भिन्न अन्य सभी अनुभूति को प्रमा कहा है।[2] उनका कहना है कि स्मृति किसी अन्य अनुभूति के संस्कारों से उत्पन्न होती है अतः वह प्रमा नहीं है। स्पष्ट ही प्राभाकारों का अनुभूति से तात्पर्य केवल उस ज्ञान से हैं जो इन्द्रिय के विषय के साथ सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से सामान्य अर्थ में अनुभव से जो तात्पर्य लिया जाता है उससे अनुभूति का अर्थ भिन्न है। सामान्य रूप में अनुभव में सभी प्रकार के ज्ञान का चाहे वह सत्य हो अथवा मिथ्या, स्मृति हो अथवा प्रमाण, समावेश हो जाता है जो कि प्राभाकारों के अनुभूति संप्रत्यय से भिन्न है।

किन्तु स्पष्ट ही यहाँ पर प्रभाकर मत में अन्तर्विरोध दृष्टिगत होता है। अपनी अख्याति की व्याख्या में वे स्वीकार करते हैं कि 'यह' ज्ञान तथा 'सर्प' ज्ञान अपने अलग-अलग रूप में प्रमा रूप है। 'यह' जो प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है उसमें भेद के अग्रहण के कारण भ्रम उत्पन्न होता है। इस प्रसंग में स्मृति को भी प्रमा रूप ही स्वीकार किया गया है तथा जब वे अन्य स्थल पर स्मृति के अतिरिक्त अन्य अनुभूति को प्रमा रूप कहते हैं तथा स्मृति को अप्रमा रूप स्वीकार करते हैं तब दोनों कथनों में विरोध स्पष्ट ही है।

यहाँ पर एक प्रश्न उठ सकता है। जब हम किसी को कुछ समय तक निरन्तर देख रहे होते हैं तब उस धारावाहिक ज्ञान में प्रथम क्षण के ज्ञान के पश्चात् अन्य क्षणों के ज्ञान को इस दृष्टि से प्रमा के अन्तर्गत मानेंगे अथवा अप्रमा में। यह कहा जा सकता है कि वास्तव में उसकी अनुभूति तो प्रथम क्षण में ही हुई थी। बाद के क्षणों के ज्ञान मे कोई नवीन ज्ञान हमें नहीं हुआ। अतः उसे स्मृति रूप मान कर

1. प्रभाकर · बृहती पृ॰ 24।
2. अनुभूति प्रमाणम् सा स्मृतेरन्या स्मृतिः पुनः पूर्व विज्ञान संस्कारमात्रजम् ज्ञानमुच्यते: प्रकरणपंचिका पृ॰ 127।

अप्रमा रूप ही मानना होगा। किन्तु इस प्रकार तो हमारा अधिकांश ज्ञान अप्रमा की कोटि में आ जाएगा तथा इस प्रकार की मान्यता न्यायसंगत नहीं प्रतीत होती। प्रायः जबतक हम किसी विषय का ज्ञान करते रहते हैं तो उसे प्रमा रूप ही मानते हैं। इसके उत्तर में शालिक नाथ का कहना है कि वास्तव में धारावाहिक ज्ञान अप्रमा रूप न होकर प्रमा रूप ही है। धारावाहिक ज्ञान में भी विषय का इन्द्रियों से निरंतर सम्पर्क होता रहता है। अतः यह प्रमा रूप ही है स्मृति रूप नहीं।[1] इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञा भी प्रमा रूप है क्योंकि यह पूर्णरूपेण स्मृति पर आधारित नहीं होती। विषय से ही प्रत्यभिज्ञा उत्पन्न होती है, केवल प्राचीन अनुभूति के संस्कारों से नहीं।

कुमारिल मीमांसक प्राभाकरों की प्रमा की उपर्युक्त परिभाषा को दूषित मानते हैं अतः उसे स्वीकार नहीं करते। पार्थसारथी ने शास्त्रदीपिका में प्रमा को अनुभूति-रूप में परिभाषित करने की कटु आलोचना की है। उनका कहना है कि प्रमा की इस परिभाषा को स्वीकार कर लेने पर अनुमान जो कि व्याप्तिजन्य है तथा व्याप्ति प्राचीन अनुभूति के संस्कारों के अतिरिक्त कुछ नहीं है, अप्रमा रूप हो जायेगा। जबकि वे स्वयं अनुमान को प्रमा रूप मानते हैं अप्रमा रूप नहीं। इसी प्रकार, सविकल्पक प्रत्यक्ष भी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष रूप प्राचीन अनुभूति से उत्पन्न होने के कारण अप्रमा होना चाहिए, किन्तु वे स्वयं सविकल्पक प्रत्यक्ष को प्रमा मानते हैं। *निस्संदेह पार्थसारथी की यह आलोचना तर्कयुक्त नहीं है। प्रभाकर यह स्वीकार नहीं* करते कि स्मृति की उपस्थिति मात्र से ही ज्ञान अप्रमा रूप बन जाता है। उनका आशय यह है कि किसी भी ज्ञान को प्रमा रूप होने के लिए विषय का सन्निकर्ष अवश्य ही होना चाहिए। यदि सन्निकर्ष के साथ स्मृति भी है तो वह ज्ञान प्रमा रूप ही माना जाता है न कि अप्रमा रूप। प्रभाकर-मीमांसक प्रत्यभिज्ञा को प्रमा रूप इसीलिए मानते हैं कि उसमें इन्द्रियों का विषय के साथ सन्निकर्ष भी होता है, यद्यपि उस ज्ञान में स्मृति का भी पर्याप्त योगदान रहता है। अनुमान तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष में स्मृति का योगदान अवश्य रहता है, किन्तु इन अवस्थाओं में विषय का प्रत्यभिज्ञा की भाँति इन्द्रिय सन्निकर्ष भी होता है अतः ये उनकी परिभाषा के अनुसार प्रमा के अन्तर्गत ही आयेंगे, अप्रमा के अन्तर्गत नहीं।

यह सम्भव है कि किसी दशा में अनुमान स्थल में पक्ष भी इन्द्रियों के सम्मुख नहीं होता। स्मृति द्वारा प्रस्तुत पक्ष के सम्बन्ध में जब व्याप्ति के आधार पर कोई अनुमान लगाया जाता है तब अवश्य ही प्रभाकर-मत द्वारा प्रस्तुत परिभाषा में कठिनाई होती है। किन्तु वास्तव में जब प्रभाकर-मत प्रमा को स्मृति से भिन्न, अनुभूति रूप में परिभाषित करते हैं तो उनका मुख्य आशय नवीनता अथवा अनधि-

1. शालिक नाथ : प्रकरण पंचिका पृ० 42।

गतता को प्रमा का आवश्यक तत्त्व मानने से है। स्मृति में पूर्व ज्ञान की ही पुनरावृत्ति होती है और इसीलिए इसे एक प्रकार का अनुभव होने हुए भी प्रमा रूप स्वीकार नहीं किया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक अनुभूति जिसमे नवीनता होती है तथा फलस्वरूप कुछ न कुछ ज्ञान की वृद्धि होती है प्रमा रूप स्वीकार करली गई है। यदि हम इस तथ्य को ध्यान में रखें तो प्रभाकर-मत मे पार्थसारथी द्वारा प्रस्तुत कठिनाई का स्वतः ही समाधान हो जाता है।

ज्ञान-मीमांसा की दृष्टि से यदि प्राभाकारो का मत स्वीकार भी कर लिया जाय तब भी इससे समस्या का पूर्ण समाधान नही हो पाता। प्रमा की समस्या ज्ञान-मीमांसीय होने के साथ-साथ व्यावहारिक भी है। यदि ज्ञान-मीमांसा की दृष्टि से यह मान भी लिया जाय कि सभी ज्ञान वास्तव मे प्रमा रूप ही होते हैं तब भी व्यावहारिक दृष्टि से प्रमा का अप्रमा से भेद अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। बौद्धो की इस मान्यता मे कि ज्ञान का प्रश्न मात्र सैद्धान्तिक नही है, वह वास्तव मे व्यवहार के सन्दर्भ मे ही उठता है, बहुत कुछ सत्य का अंश है। स्वयं रामानुजाचार्य[1] ने, जो प्रभाकर के अनुयायी हैं तीन विभिन्न स्तरों पर तीन प्रकार के प्रामाण्य या प्रमात्व की चर्चा की है। प्रथम अर्थ में, प्रत्येक ज्ञान जिसमे स्मृति भी निहित है प्रमा है। रामानुज ने इसे याथार्थ्य कहा है। इस अर्थ में जैसा कि हम बतला चुके हैं किसी भी ज्ञान के लिए विषय को प्रकाशित करना ही उसका प्रमात्व है किन्तु प्रमात्व की यह परिभाषा प्रमा तथा अप्रमा के भेद को पूर्णतः समाप्त कर देती है। अतः प्रमा का यह लक्षण व्यवहार की दृष्टि से तो पूर्णरूपेण महत्त्वहीन है ही, ज्ञान-मीमांसा की दृष्टि से भी विशेष महत्त्व नही रखता। जब सभी ज्ञान प्रमा रूप ही है तब अप्रमा तथा प्रमा के भेद का ही क्या अर्थ है? यह परिभाषा वास्तव मे पुनरुक्ति मात्र है। इसलिए स्वयं प्राभाकारों ने भी इस लक्षण को प्रमात्व का वास्तविक लक्षण स्वीकार न कर इसके दूसरे लक्षण की कल्पना की।

दूसरे अर्थ मे, रामानुजाचार्य जिसे प्रामाण्य संज्ञा देते है प्रमा तथा अप्रमा का भेद सम्भव होता है। इस अर्थ में स्मृति के अतिरिक्त सभी ज्ञान प्रमा है। प्रमा के इस अर्थ की भी चर्चा हम कर चुके हैं। किन्तु प्रमा का यह अर्थ भी व्यवहार की दृष्टि से मूल्यहीन है। अतः उन्होने प्रमा के तीसरे अर्थ की चर्चा की जिसे वे संवादकत्व कहते हैं। संवादकत्व की परिभाषा वे व्यवहार अविसंवाद के रूप में देते हैं।[2] कोई भी ज्ञान जब व्यवहार मे सफलता का हेतु होता है तब वह ज्ञान प्रमा तथा यदि उस ज्ञान से व्यवहार मे सफलता के स्थान पर असफलता हाथ लगे तो वह अप्रमा माना

1. तन्त्ररहस्य पृ० 3।
2 यत्र तु न (व्यवहारविसंवादः) तत्र संवादकम् : —तन्त्ररहस्य, पृ० 3।

जाता है ।[1] बौद्धों तथा नैयायिकों ने भी प्रवृत्ति की सफलता के रूप में प्रमा को देखने का प्रयास किया है अतः इस प्रश्न पर हम यहाँ पर विचार न कर उसी स्थल पर विचार करेंगे ।

कुमारिल ने अपने स्वतः प्रामाण्य को प्रतिपादित करते हुए प्रामाण्य को बोधात्मकत्व के रूप में परिभाषित किया है ।[2] इस अर्थ में प्रमा का लक्षण प्राभाकरों के याथार्थ्य से भिन्न प्रतीत नहीं होता । प्रत्येक ज्ञान में अपने विषय का बोध कराने की शक्ति होती है, यहाँ तक कि स्मृति भी अपने विषय को प्रकाशित करती ही है । इस प्रकार विषय का बोध कराने का यह स्वभाव ही प्रामाण्य का लक्षण हो तो प्रत्येक ज्ञान आवश्यक रूप से प्रमा रूप होगा तथा इस परिभाषा में वे सभी दोष होंगे जो प्राभाकरों के प्रमा को अनुभूति रूप प्रतिपादित करने में हमने दर्शाये हैं । किन्तु सम्भवतः कुमारिल स्वयं भी प्रमात्व को इस प्रकार परिभाषित नहीं करना चाहते । अपनी इसी पुस्तक में एक अन्य स्थल पर उन्होंने प्रमा का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि विषय का वह निश्चित ज्ञान जिसके संवाद (प्रामाण्य) के लिए किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती, प्रमा होता है ।[3] उम्बेक इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि दृढ़ पद संशय को प्रमा से अलग करता है तथा 'न विसंवाद मृच्छति' (जिसका किसी अन्य ज्ञान से बाध नहीं होता) इसका भ्रम से भेद करता है । आगे सुचरित मिश्र इसी सदर्भ में कहते हैं कि प्रमा में ज्ञान की अधिकता भी होना आवश्यक है । पार्थसारथी के अनुसार प्रमा वह ज्ञान है जो कारण दोष रहित, बाधकज्ञान रहित तथा पहले से ज्ञात न हो ।[4] अर्थात् वह ज्ञान जिसके कारण में कोई दोष नहीं हो, जिसका किसी अन्य ज्ञान से बाध न हो तथा जो अनधिगत हो वह प्रमा है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाट्टों द्वारा प्रतिपादित प्रमा का लक्षण प्राभाकरों के प्रमा के लक्षण से भिन्न है । यद्यपि पार्थ सारथी प्रमा के लक्षण में बाधक-ज्ञान-रहितता का समावेश करते हैं यह लक्षण रामानुजाचार्य के संवादत्व से मेल नहीं खाता । संवादत्व में व्यवहार की सफलता तथा असफलता द्वारा प्रामाण्य का ग्रहण होता है जबकि पार्थसारथी व्यवहार की चर्चा न कर केवल ज्ञान की चर्चा करते हैं । भाट्टों की परिभाषा के अनुसार प्रमा की स्थापना के लिए व्यवहार में प्रवृत्त होना आवश्यक नहीं है । यदि कोई ज्ञान अन्य ज्ञान से बाधित नहीं होता तो वह प्रमा है जबकि रामानुजाचार्य के अनुसार व्यवहार में प्रवृत्त हुए बिना संवादत्व की सिद्धि नहीं होती ।

1 [illegible] । —[illegible], पृ० 3 ।
2 श्लोकवार्तिक 2-53 ।
3. तस्मात् दृढ़म् यदुत्पन्नम् नापि विसंवादमृच्छति ।
ज्ञानान्तरेण विज्ञानम् तत् प्रमाणम् प्रतीयताम् ॥ —श्लोक वार्तिक सूत्र 2.80 ।
4 कारण दोष बाधक ज्ञान रहितम् अगृहीत ग्राहि ज्ञानम् प्रमाणम् शास्त्र दीपिका, पृ० 45 ।

लगभग सभी भारतीय दार्शनिक यह स्वीकार करते हैं कि प्रमा, भ्रम, संशय तथा स्मृति से भिन्न ज्ञान है, किन्तु प्रमा को इस प्रकार परिभाषित करने में निषेधात्मक परिभाषा का दोष पाया जाता है। परिभाषा को केवल यह संकेत नहीं करना चाहिए कि लक्षित वस्तु अमुक लक्षणों वाली नहीं है वरन् उसे स्वीकार-भाव से यह भी दर्शाना चाहिए कि यह अमुक लक्षण वाली है। मीमांसक दार्शनिक जैसा कि हम देख चुके हैं, सामान्य रूप से इसके लिए तीन लक्षण निर्धारित करते हैं। प्रमा वह है जिसमें निश्चितता या दृढ़ता हो, नवीनता या अनधिगतता हो तथा जिसका अन्य ज्ञान के द्वारा बाध न हो। इसके साथ-साथ वे कारण दोष-रहितता तथा प्रवृत्ति संवाद की भी चर्चा करते हैं। हम प्रमा के लक्षण के इन सभी घटकों पर क्रमशः विचार करेंगे।

यह निर्विवाद है कि किसी भी ज्ञान को प्रमा रूप होने के लिए उसे संशयरहित होना चाहिए। कोई भी ज्ञान प्रमा रूप तभी माना जा सकता है जब उसके प्रमा रूप होने का ज्ञान भी हो। यदि किसी ज्ञान के विषय मे हमे तनिक भी संदेह हो तो हम उसे प्रमा रूप नहीं स्वीकार करते। यदि हमे किसी ज्ञान के विषय मे संशय हो तब संशय के उन कारणों का भली प्रकार परीक्षण कर उनके निराकरण हो जाने पर ही वह ज्ञान प्रमा कोटि का कहा जाता है। ज्ञान मे संशय के इस स्वरूप को लेकर बड़ी विशद चर्चा हुई है। प्रामाण्यवाद का एक मुख्य प्रश्न ही यह है कि जब ज्ञान उत्पन्न होता है तब उसके प्रति हमारा क्या दृष्टिकोण होना चाहिए ? क्या हमें प्रत्येक ज्ञान को संशय की दृष्टि से ही देखना चाहिए तथा उसके पूर्ण निराकरण के पश्चात् ही उसे प्रमा रूप में स्वीकार करना चाहिए अथवा किसी भी ज्ञान के प्रति हमारा दृष्टिकोण संशय का न होकर विश्वास का होना चाहिए तथा जब तक किसी ज्ञान मे संशय करने का कोई स्पष्ट हेतु प्रतीत न हो उसे प्रमा रूप ही स्वीकार करना चाहिए। इस प्रश्न पर हम विस्तार से अगले प्रकरण 'प्रामाण्यवाद' में विचार करेंगे। यहाँ पर इतना समझ लेना समीचीन होगा कि निर्विवाद रूप से निश्चितता को प्रमा के लक्षण रूप मे स्वीकार किया गया है।

यहाँ पर यह भी ध्यातव्य है कि यह निश्चितता मनोवैज्ञानिक तथा तार्किक दो प्रकार की होती है। मनोवैज्ञानिक निश्चितता किसी ज्ञान के प्रति उसके प्रमा रूप होने का हमारा विश्वास मात्र है। यह विश्वास न केवल प्रमा मे पाया जाता है वरन् भ्रम मे भी निश्चित रूप से विद्यमान रहता है अन्यथा इस विश्वास की कमी उस ज्ञान को भ्रम की कोटि से निकालकर संशय की स्थिति में ला देगा। जब मैं रस्सी को सर्प रूप देखता हूँ तथा मुझे वैज्ञानिक दृष्टि से उसके सर्प होने मे पूर्ण विश्वास होता है तब मैं उसे निश्चित रूप से सर्प रूप ही मानता हूँ। इस प्रकार की मनोवैज्ञानिक निश्चितता प्रमा तथा भ्रम दोनों मे व्याप्त होने के कारण प्रमा का लक्षण

नहीं माना जा सकता और इसलिए तार्किक दृष्टि से निश्चितता ही प्रमा के लक्षण रूप में स्वीकार की जानी चाहिए। जब तार्किक आधार पर हमें इसका निश्चय हो कि यह ज्ञान सही होना चाहिए तभी उसे प्रमा रूप माना जाना चाहिए अन्यथा नहीं। इस दृष्टि से प्रमा मात्र विश्वास से भिन्न है। तार्किक दृष्टि से इस निश्चय की स्थापना किस प्रकार सम्भव है, अथवा सम्भव भी है या नहीं यह भी प्रामाण्यवाद की मुख्य समस्या है अत: इस पर उसी प्रकरण में हम विचार करेंगे।

मीमांसक प्रमा का दूसरा लक्षण अनधिगतता या नवीनता स्वीकार करते हैं। इस लक्षण द्वारा वे प्रमा से स्मृति को अलग करना चाहते हैं। यहाँ पर अद्वैत वेदांत का इस विषय में कोई आग्रह नहीं है। धर्मराज का मत है[1] कि प्रमा को दो तरह से परिभाषित किया जा सकता है। प्रथम, जिसमें स्मृति का प्रमा के अन्तर्गत ही समावेश हो जाय तथा दूसरे, जिसमें स्मृति को प्रमा न माना जाकर अप्रमा ही माना जाय। उनका कथन है कि प्रथम अवस्था में परिभाषा से अनधिगतता का लक्षण हटा लिया जाना चाहिए जबकि दूसरी स्थिति में अनधिगतता या नवीनता प्रमा के लक्षणों में से एक होगा।

उक्त कथन से धर्मराज का यह तात्पर्य प्रतीत होता है कि चूँकि स्मृति में प्रमा के अन्य सभी लक्षण विद्यमान होते हैं अत: स्मृति को यदि प्रमा रूप मान लिया जाय तो कोई हानि नहीं है। बौद्ध[2] अनधिगतता को प्रमा का आवश्यक लक्षण मानते हैं तथा वे किसी भी स्थिति में अधिगत ज्ञान को प्रमा की कोटि में मानने को तैयार नहीं हैं। न्याय स्मृति को तो प्रमा की कोटि में नहीं मानते तथा वे स्पष्ट रूप से इसे अप्रमा रूप ही स्वीकार करते हैं, किन्तु उनका कहना है कि स्मृति को प्रमा की श्रेणी से अलग करने के लिए प्रमा के लक्षण में अनधिगतता या नवीनता जोड़ने की आवश्यकता नहीं है। जयन्त[3] असंदिग्ध तथा अव्यभिचारी उपलब्धि के रूप में प्रमा को परिभाषित करते हैं। जयन्त का कहना है कि भाट्ट जब अनधिगतता को प्रमा के लक्षण में सम्मिलित करते हैं तब उनकी परिभाषा अव्याप्त हो जाती है क्योंकि धारावाहिक ज्ञान जो प्रमा रूप है, अनधिगत नहीं होने से इस परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आता। धारावाहिक ज्ञान के विषय में हम अभी विचार करेंगे। प्रथम यहाँ पर यह देखना अभिप्रेत है कि जयन्त का यह दावा कि प्रमा को उपलब्धि के रूप में परिभाषित करने पर स्मृति की उससे स्वत: ही व्यावृत्ति हो जाती है कहाँ तक ठीक है। जयन्त का कहना है कि उपलब्धि का अर्थ अर्थानुभूति है। वे प्रभाकर की भाँति

1. वेदान्त परिभाषा : प्रत्यक्ष प्रकरण।
2. अधिगत विषयं प्रमाणम् — धर्मोत्तर : न्याय बिन्दु टीका पृ० 3।
3. न्याय मंजरी, पृ० 12।

कहते हैं जो ज्ञान अर्थ अर्थात् विषय से उत्पन्न हो, प्रमा होता है। स्मृति की उत्पत्ति विषय से न होकर किसी पूर्व ज्ञान के संस्कारों से उत्पन्न होती है अतः उसे अर्थजन्योपलब्धि नहीं कहा जा सकता। किन्तु इस पर यह आपत्ति की जा सकती है कि इस प्रकार परिभाषित करने से प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य सभी ज्ञान अप्रमा की कोटि में आ जायेंगे। अनुमान में जब हम धूम्र को देख कर अग्नि का ज्ञान प्राप्त करते हैं तब यह अग्नि का ज्ञान भी व्याप्ति ज्ञान के आधार पर होता है जो कि संस्कार रूप में हमारे मन में रक्षित रहता है, इसी प्रकार, इस परिभाषा के अनुसार भूतकालीन वस्तुओं का तथा भविष्यकालीन वस्तुओं का ज्ञान भी विषय द्वारा उत्पन्न न होने के कारण अप्रमा रूप ही होगा। अकबर का ज्ञान वर्तमान काल में स्वयं अकबर द्वारा उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि इस समय उसकी सत्ता ही नहीं है। इसका उत्तर देते हुए जयन्त कहते हैं कि अनुमानित वस्तु का ज्ञान हेतु के विशेषण के रूप में होता है तथा इस प्रकार प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात हेतु के द्वारा ही इन भूतकालीन वस्तुओं का ज्ञान माना जाना चाहिए। वे कहते हैं कि जब नदी की बाढ़ को देख कर हम भूतकाल में हुई वर्षा का ज्ञान प्राप्त करते हैं तब हम वास्तव में सीधे वर्षा का ज्ञान नहीं प्राप्त करते वरन् ऐसी नदी का ज्ञान प्राप्त करते हैं जो पूर्व वर्षा से विशेषित है।

इसी प्रकार, भविष्यकालीन घटनाओं की व्याख्या करते हुए जयन्त कहते हैं कि जब हमें यह ज्ञान होता है कि 'मेरा भ्राता कल आयेगा' तब 'कल आने' की घटना मेरे भ्राता का विशेषण है तथा मेरा भ्राता वर्तमान में है तथा इस वर्तमान में स्थित विषय के विशेषण के रूप में ही उसके कल आने की बात का ज्ञान होता है। अस्तु, वर्तमान में स्थित न होने पर भी भूतकालीन तथा भविष्यकालीन पदार्थों के ज्ञान को वे वर्तमान में स्थित पदार्थों के विशेषणों के रूप में व्याख्यायित कर विषय द्वारा ही उनका ज्ञान होना मानते हैं तथा परिभाषा के अव्याप्ति दोष होने का परिहार करते हैं।

फिर भी, जयन्त का यह प्रयास युक्तिसंगत नहीं ठहरता है। यद्यपि यह बात सही है कि भूतकालीन तथा भविष्यकालीन वस्तुओं का ज्ञान किसी वर्तमान में स्थित हेतु के आधार पर ही होता है किन्तु इस हेतु के माध्यम से ज्ञान उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार वस्तु को देखने से उसके विशेषण का ज्ञान होता है। जब हम मेज को देख कर उसके लाल रंग का ज्ञान प्राप्त करते हैं तब इसके बीच में स्मृति या संस्कार का कोई माध्यम नहीं होता परन्तु जब हम नदी की बाढ़ को देख कर वर्षा का अनुमान करते है तो आवश्यक रूप से व्याप्ति के संस्कार इस ज्ञान में कारण होते हैं। इसी प्रकार, जब मुझे कल आने वाले भाई का ज्ञान होता है तो

यह ज्ञान उसी प्रकार का नहीं है जैसा भाई को देखकर उसके रंग रूप आदि का मैं ज्ञान प्राप्त करता हू । भाई के रंग के ज्ञान को भाई के ज्ञान द्वारा उत्पन्न मानना तो फिर भी सगत माना जा सकता है, किन्तु केवल उसे जानने मात्र से उसके कल आने की बात का भी सीधा बिना किसी संस्कार आदि के माध्यम से हमे ज्ञान हो जायेगा, यह स्वीकार नही किया जा सकता। मेरा भाई इस समय यहां पर है ही नही, वह कल आने वाला है, फिर भला उसका तथा उसके विशेषण का ज्ञान हमे सीधा कैसे हो सकता है ? जयन्त विशेषण शब्द को बडा खींचतान कर प्रयुक्त करते हैं। वर्षा नदी का तथा कल आना भाई का विशेषण एक विशेष अर्थ में ही माना जा सकता है। यह विशेषण का सामान्य अर्थ नही है। इस विशेष अर्थ मे स्मृति द्वारा ज्ञान भी वर्तमान ज्ञान का विशेषण कहा जा सकता है। मैं अपने मित्र के घर जाता हूँ तथा वहाँ जाने पर मुझे उनके पिता की याद आ जाती है। यहाँ पर मित्र का ज्ञान उनके पिता के ज्ञान में हेतु है। अतः उनके पिता का ज्ञान जो निश्चित रूप से स्मृति रूप है, मित्र के ज्ञान के द्वारा उत्पन्न होने से अर्थजन्य होगा तथा प्रमा रूप कहलायेगा। तथा इस प्रकार स्मृति द्वारा ज्ञान के समावेश मे प्रमा की परिभाषा अतिव्याप्त होगी।

साथ ही, जिस कठिनाई से बचने के लिए जयन्त आदि ने यह सब प्रयास किया उसका निराकरण अन्य दार्शनिकों ने आसानी मे कर दिया है जैसा कि हम अभी देखेंगे। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि स्मृति को इस प्रकार प्रमा से अलग ही करना है तो अनधिगतता का लक्षण उसमें जोड देना ही अधिक तर्कसंगत है।

किन्तु मुख्य प्रश्न जिस पर भारतीय दार्शनिकों ने विशेष ध्यान नही दिया वह है स्मृति का ज्ञान की दृष्टि से विश्लेषण। यदि हम अनधिगतता को प्रमा की परिभाषा में न भी जोड़ें जैसा कि विकल्प रूप मे धर्मराज ने कहा है, तब भी क्या स्मृति प्रमा या ज्ञान के अन्तर्गत आ सकती है ? स्मृति पर विचार करते समय हमें दो स्थितियो में पहले भेद स्पष्ट समझ लेना चाहिए। प्रथम तो जब मुझे अपनी स्मृति का स्मृति रूप मे ज्ञान होता है। जब अपने मित्र को देखकर मुझे उनके पिता का स्मरण होता है तब मैं यह जानता हूँ कि मुझे पिता की स्मृति हो आई है। यह ज्ञान उसी प्रकार का ज्ञान है जिस प्रकार ज्ञान का ज्ञान। न्याय के अनुसार वह अनुव्यवसाय द्वारा होता है तथा प्रभाकर वेदान्त आदि के अनुसार यह स्मृति के साथ ही साथ प्रकाशित होता है। इस ज्ञान का विषय पिता न होकर स्वयं स्मृति चेतना है तथा इसलिए यह ज्ञान हर तरह से स्मृति से भिन्न तथा प्रमा रूप माना जाना चाहिए। इसी प्रकार, जब मुझे संशय होता है तब उस संशय का ज्ञान संशय न होकर प्रमा रूप ही होता है।

दूसरे यह पूछा जा सकता है कि. जिस चेतना का ज्ञान मुझे स्मृति रूप मे हो रहा है वह वास्तव में स्मृति है भी या इसके स्मृति रूप होने का मुझे भ्रम मात्र हो रहा है। यह सम्भव है कि जिसे मैं स्मृति रूप समझ रहा हूँ वह स्मृति न होकर कल्पना मात्र हो तथा मेरी यह धारणा कि मुझे पहले इस विषय का ज्ञान हो चुका है मात्र भ्रान्त धारणा हो। हमारे विचार से केवल इसी दृष्टि से स्मृति के विषय मे प्रमा या अप्रमा का प्रश्न उठ सकता है। किन्तु यह प्रश्न तो प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों के विषय मे भी इसी प्रकार उठता है। हमें जो अपरोक्ष ज्ञान हो रहा है उसके विषय में यह पूछा जा सकता है कि जो ज्ञान हमें प्रत्यक्ष प्रमा रूप से भासित हो रहा है वह वास्तव में प्रमा रूप है अथवा भ्रम रूप। इसी प्रकार, अनुमान के बारे में यह प्रश्न उठता है कि जिस हेतु के आधार पर अनुमान लगाया जा रहा है वह वास्तव में हेतु है अथवा हेत्वाभास मात्र। तथा इस प्रश्न के निर्णय में जो मानदंड हम अपनाते हैं वही मानदंड स्मृति के विषय मे भी अपनाया जाना चाहिए। उसमे नवीनता आदि का भेद यहाँ इस दृष्टि से प्रासंगिक नहीं ठहरता है।

किन्तु फिर भी एक महत्त्वपूर्ण अन्तर प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमा तथा स्मृति के बीच रहता है। प्रत्यक्ष अनुमान आदि का प्रमात्व विषय की अनुरूपता से सिद्ध होता है। जो ज्ञान हमे प्राप्त हो रहा है उसकी विषय से अनुरूपता है तो वह ज्ञान प्रमा रूप तथा यदि उससे अनुरूपता नहीं है तो वह ज्ञान अप्रमा रूप माना जाता है। किन्तु स्मृति के बारे मे यह बात लागू नहीं होती। स्मृति का प्रमात्व विषय से अनुरूपता में न होकर पूर्व ज्ञान से अनुरूपता पर निर्भर होता है। मान लीजिए, प्रातः मैंने कमरे मे जो एक रस्सी थी उसे भ्रम-वश सर्प रूप देखा। दो दिन बाद मैं उस ज्ञान का स्मरण करता हूँ। किसी भी स्मृति में भूल हो जाने की सदैव ही सम्भावना रहती है। अतः इस स्मरण का यथार्थ रूप 'मैंने प्रातः कमरे में सर्प देखा था' होगा। स्मृति के भ्रम से मेरे स्मरण का *'मैंने प्रातः कमरे में रस्सी देखी थी'* यह भी हो सकता है। इन दोनों स्मरणों में से प्रथम स्मरण वस्तुस्थिति की दृष्टि से अयथार्थ अथवा असत्य होते हुए भी यथार्थ स्मरण कहा जाएगा जब कि द्वितीय स्मरण वस्तुस्थिति की दृष्टि से यथार्थ होते हुए भी अयथार्थ स्मृति का उदाहरण होगा। इससे यही निष्कर्ष निकलता है *कि स्मृति का विषय वास्तव मे वस्तुस्थिति न* होकर हमारा पूर्व ज्ञान ही है, वही उसका प्रदत्त है तथा उसी से अनुरूपता अथवा अननुरूपता पर स्मृति का प्रमात्व अथवा अप्रमात्व निर्भर करता है। हमारे पूर्वज्ञान के बारे मे स्मृति ही प्रमाण है। ज्ञान पूर्ण रूपेण वैयक्तिक घटना है तथा स्मृति के अतिरिक्त किसी भी *अन्य माध्यम से उसका ज्ञान नहीं हो सकता इसलिए* पूर्वज्ञान के विषय में स्मृति को प्रमाण मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। चूँकि जैसा हमने अभी देखा, स्मृति भी यथार्थ अथवा अयथार्थ हो सकती है अतः

प्रमा तथा अप्रमा में भेद को स्मृति के सन्दर्भ में करके स्मृति को प्रमा के अन्तर्गत ही माना जाना चाहिए।

इतना होने पर भी स्मृति प्रमा तथा अन्य प्रमाओं में एक मूलभूत अन्तर होगा। प्रायः यह स्वीकार किया जाता है कि किसी भी ज्ञान के प्रमात्व तथा अप्रमात्व की स्थापना के लिए कोई न कोई मानदण्ड सभी दार्शनिकों ने माना है। अबाधितता अथवा प्रवृत्ति साफल्य द्वारा ज्ञान का प्रामाण्यीकरण होता है किन्तु स्मृति के विषय में इस प्रकार का कोई मानदण्ड उपलब्ध नहीं हो सकता। ज्ञान क्षणिक घटना होती है तथा उसकी पुनरावृत्ति नहीं हो सकती अतः उसका पुनः निरीक्षण भी सम्भव नहीं है। स्मृति का हमारे प्रयोजन या क्रिया से भी सम्बन्ध नहीं होता। अतः प्रवृत्ति साफल्य अथवा अबाधितता के स्मृति रूप में भी इसका प्रामाण्यीकरण सम्भव नहीं है। अतः सैद्धान्तिक रूप से स्मृति के सत्य अथवा असत्य होने का भेद मान लेने पर भी प्रामाण्यीकरण सम्भव न होने से इसका कोई व्यावहारिक मूल्य नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह बात ठीक है कि स्मृति अनुभव पर आधारित है जबकि अनुभव विषय पर आश्रित है। तथा इस दृष्टि से दोनों ज्ञान रूप होने पर भी दोनों में भेद स्पष्ट है। एक संस्कार मात्र से उत्पन्न होता है जबकि दूसरे की उत्पत्ति में अर्थ भी हेतु है। इसी भेद के कारण दोनों में यथार्थता तथा अयथार्थता का भेद भी उत्पन्न होता है। स्मृति की यथार्थता माध्यम भूत ज्ञान के अर्थ के अनुरूप होने पर निर्भर नहीं है क्योंकि यह अर्थ से उत्पन्न नहीं है जबकि अनुभव की यथार्थता अर्थ के अनुरूप होने पर निर्भर है। किन्तु इसी कारण स्मृति को, चाहे वह यथार्थ ही क्यों न हो, प्रमा की कोटि से बाहर रखना उचित नहीं जान पड़ता। हम देख चुके हैं कि स्मृति अर्थ के विषय में प्रमाण नहीं है। यह केवल पूर्वज्ञान के विषय में प्रमाण है तथा इस दृष्टि से वास्तव में प्रमा के अन्तर्गत ही उसकी गिनती होनी चाहिए। स्मृति की यथार्थता का प्रश्न भी अनुभव की यथार्थता के प्रश्न के समान ही अपने विषय की अनुरूपता द्वारा हल हो सकता है, किन्तु कठिनाई तब उत्पन्न होती है जब यह प्रश्न किया जाय कि स्मृति अथवा अनुभव की यथार्थता का ज्ञान कैसे सम्भव है तथा जैसा कि हमने देखा, इस विषय में स्मृति की यथार्थता का निर्णय किसी भी विधि से सम्भव नहीं है। स्मृति की यथार्थता का आधार स्मृति को बनाने से अनवस्था दोष उत्पन्न होता है तथा अनुभव उसका आधार हो नहीं सकता।

न्याय ने उपर्युक्त मत के विपरीत पक्ष स्वीकार किया है। वे स्मृति के प्रमात्व तथा अप्रमात्व के प्रश्न का निर्णय अनुभव के यथार्थ तथा अयथार्थ होने के आधार पर स्वीकार करते हैं तथा इस प्रकार उनकी मान्यता है कि यथार्थ अनुभव पर

आधारित स्मृति यथार्थ तथा अयथार्थ अनुभव पर आधारित स्मृति अयथार्थ मानी जानी चाहिए। उनके अनुसार स्मृति के आधार पर जो ज्ञान उपलब्ध होता है, उसके प्रमात्व-अप्रमात्व का निर्णय करना हो तो हमें स्मृति को छोड़कर उस मूल ज्ञान पर जाना होगा जिसकी वह स्मृति है। मान लीजिए, मैंने कोई घटना देखी थी जिसकी मुझे इस समय स्मृति है। इस स्मृति के आधार पर उस घटना का वर्णन मैं अपने मित्र से करता हूँ। कोई दूसरा व्यक्ति मेरे इस वर्णन की सचाई पर संशय करता है। तब ऐसी हालत में, मैं जैसा वर्णन कर रहा हूँ वैसी ही घटना घटी अथवा नहीं, इस विषय में स्वयं स्मृति प्रमाण नहीं हो सकती। इसके लिए मुझे पुनः उस ज्ञान को चीन्हना पड़ेगा जिसके द्वारा प्रारम्भ में वह घटना मेरे लिए ग्राह्य बनी थी। चूँकि स्मृति तथ्य के बारे में स्वतन्त्र रूप से ज्ञान प्रदान करने वाली नहीं है, वह इस विषय मे प्रमाण स्वीकार नहीं की जा सकती। इसी कारण से न्याय स्मृति को अप्रमा कह सकता है।

किन्तु जैसा हम कह चुके हैं, न्याय का यह पक्ष स्वीकार नहीं किया जा सकता। स्मृति जब पूर्वज्ञान के विषय में ही प्रमाण है तब उसी के संदर्भ में उसके प्रमात्व तथा अप्रमात्व का निर्णय भी होना चाहिए न कि उस संदर्भ में जो उसका विषय है ही नहीं। साथ ही, पूर्वज्ञान के आधार पर जब स्मृति को प्रमाण मानते हैं तब वह अन्य प्रमाणों की भांति ही प्रमात्व प्रदान करने वाला स्वीकार किया जाना चाहिए।

अंत में, स्मृति ज्ञान को प्रमा मान लेने पर भी अन्य प्रमाओं से इसका एक महत्त्वपूर्ण अन्तर अवश्य ही रहेगा। अन्य प्रमा का प्रामाण्यीकरण सभी दर्शन किसी न किसी विधि से अवश्य ही स्वीकार करते हैं जबकि स्मृति का प्रामाण्यीकरण सर्वथा असम्भव है। यदि हम प्रमा की परिभाषा में यह बात भी स्वीकार करें कि प्रमा ज्ञान का किसी न किसी विधि से प्रामाण्यीकरण अवश्य ही सम्भव होना चाहिए तब प्रमा को अप्रमा की कोटि मे ही मानना होगा।

अब हमारे लिए धारावाहिक ज्ञान सम्बन्धी समस्या विचारणीय है। प्रायः हमारा किसी वस्तु का ज्ञान क्षण मात्र तक सीमित नहीं रहता, वह कुछ काल तक बना रहता है। मेरे सामने की मेज को मैं देख रहा हूँ तथा इस प्रकार इसका प्रत्यक्ष ज्ञान मुझे हो रहा है, किन्तु मेज को मैं कुछ समय तक देखता रहता हूँ तथा जबतक मैं इसे देखता रहता हूँ इसका ज्ञान मुझे लगातार होता रहता है। कुछ काल तक निरंतर इस प्रकार से होते रहते हुए ज्ञान को धारावाहिक ज्ञान कहते हैं। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उठाया गया है कि जब मैं किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करता हूँ तब पहले क्षण तो निश्चित ही उसमें नवीनता होती है, किन्तु वही ज्ञान जब दूसरे

क्षण भी स्थिर रहता है तब इस दूसरे क्षण के ज्ञान मे प्रथम क्षण के ज्ञान से क्या कोई नवीनता होती है। वस्तुत: यह ज्ञान ठीक वैसा ही होता है जैसा पहले क्षण का तथा इस प्रकार नवीनता के अभाव मे यह ज्ञान अप्रमा रूप स्वीकार किया जाना चाहिए। इस दृष्टि से किसी भी विषय का प्रथम क्षण का ज्ञान प्रमा रूप होगा तथा इसके उपरान्त का समस्त ज्ञान अप्रमा रूप। किन्तु इस प्रकार हमारे अधिकांश ज्ञान को अप्रमा रूप मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। कोई व्यक्ति यह मानने के लिए तैयार नहीं होगा कि धारावाहिक ज्ञान अप्रमा रूप होता है। जैसा हमने देखा, इसी कठिनाई से बचने के लिए जयन्त आदि नैयायिकों ने अनधिगतता को प्रमा का लक्षण नही माना है तथा स्मृति को प्रमा से अलग करने के लिए उन्होंने अर्थजन्योपलब्धि के रूप मे उसे परिभाषित किया है।

किन्तु भाट्ट तथा अद्वैत वेदान्ती आदि सम्प्रदाय न्याय के तर्क को स्वीकार नहीं करते। भाट्टो का मत है कि इस प्रकार के धारावाहिक ज्ञान मे प्रत्येक क्षण का ज्ञान नवीनता लिए हुए होता है। मेज को निरन्तर देखने मे मेज का पहले क्षण का ज्ञान वही नही होता जो उसका दूसरे क्षण का ज्ञान होता है। यदि अन्य सभी दृष्टियो से इन दोनो ज्ञानो को समान मान भी लें तब भी पहले क्षण के ज्ञान का विशेषण पहला क्षण होता है तथा दूसरे क्षण के ज्ञान का विशेषण दूसरा क्षण, इतनी नवीनता तो उसमें आ ही जाती है। प्रत्येक ज्ञान काल में ही घटित होता है तथा इससे सदैव ज्ञान विशेषित होता है। इस प्रकार, पहले क्षण के ज्ञान का विषय पहले क्षण की मेज होगी तथा दूसरे क्षण के ज्ञान का विषय दूसरे क्षण की मेज। भाट्टो के इस उत्तर पर यह आपत्ति की जा सकती है कि यदि हम यह मान भी लें कि काल को लेकर प्रत्येक क्षण के ज्ञान मे नवीनता होती है तब भी चूंकि काल अत्यन्त सूक्ष्म होता है अत: ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। किन्तु इस पर भाट्टों का कहना है कि काल सूक्ष्म होते हुए भी हमारे ज्ञान का विषय होता है। जब मैं यह कहता हूँ कि मैं इस वस्तु को प्रात. से देख रहा हूँ या इस वस्तु को मैंने अभी पूर्व क्षण मे देखा था, तो इनमे काल का ज्ञान प्रमाणित होता है। यदि मुझे काल का ज्ञान नहीं होता तो मुझे इस प्रकार के ज्ञान का ग्रहण कदापि नहीं हो सकता था। यह बात ठीक है कि काल का कोई आकार नहीं होता, किन्तु किसी वस्तु का ज्ञान होने के लिए उसे साकार होना आवश्यक नहीं है। किसी वस्तु का ज्ञान सम्भव है अथवा नहीं इसके लिए स्वयं चेतना ही प्रमाण है तथा हमारी चेतना हमें बतलाती है कि हमें काल का ज्ञान होता है।

सांख्य तथा अद्वैत वेदान्त इस समस्या का हल एक भिन्न प्रकार से सुझाते हैं। इन दोनों दर्शनों के अनुसार ज्ञान चित्त की वृत्ति है। चित्त जब विषय का मैं

परिणत हो जाता है तब चैतन्य के प्रकाश से वही ज्ञान रूप भासित होता है। काल का इस वृत्ति पर प्रभाव आवश्यक नही है। कई बार हमे एक ही विषय परिवर्तित रूप ज्ञात होता है तथा कई बार अपरिवर्तित रूप। परिवर्तित रूप से ज्ञात होने पर भी उसका वह रूप क्षणिक नहीं होता। क्षणिक वस्तु का ज्ञान कदापि सम्भव नही है। विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होने के लिए उसे कम-से-कम तीन क्षण स्थित रहना चाहिए। इसलिए सांख्य तथा अद्वैत वेदान्त ने माना है कि जब तक कोई वृत्ति स्थित रहे वह ज्ञान एक ही ज्ञान होता है तथा जब उस वृत्ति मे परिवर्तन होकर वह अन्य विषय का रूप ग्रहण करे तब ही वह अन्य ज्ञान माना जाना चाहिए। अत. धारावाहिक ज्ञान में एक ही ज्ञान होने के कारण द्वितीय क्षण में क्या नवीनता है यह प्रश्न समीचीन नही है। ये दार्शनिक ज्ञान को प्रथम क्षण का ज्ञान, द्वितीय क्षण का ज्ञान आदि रूप में विश्लेषित करना भूल मानते हैं। इस व्याख्या की यह मान्यता नही है कि काल द्वारा विशेषित विषय का ज्ञान हमे होता ही नहीं। इसकी मान्यता मात्र इतनी ही है कि यह आवश्यक नही है तथा जब काल विशेषित ज्ञान होता भी है तब भी वह क्षणिक नही होता। इस प्रकार ये दर्शन भाट्टों द्वारा मान्य व्याख्या की कई कठिनाइयों से बच जाते है और यह व्याख्या इसीलिए अधिक युक्त प्रतीत होती है।

न्याय ने यथार्थता को प्रमा का एक मुख्य लक्षण माना है। वात्स्यायन ने 'यदर्थ विज्ञानम् स प्रमिति'[1] कह कर प्रमा का लक्षण बतलाया है। तथा बाद में 'तस्मिन्स्तदिति प्रत्यय'[2] के रूप में अपने लक्षण को स्पष्ट किया है। वात्स्यायन के कथन का यहाँ पर यह आशय है कि यदि किसी वस्तु का ज्ञान उसी रूप मे हो तो वह प्रमा है। यथा अर्थ तथा ज्ञान ही प्रमा का लक्षण है। गगेश ने यथार्थता को प्रमा के लक्षण के रूप में अस्वीकार किया है तथा उसे तद्वती तद् प्रकारकत्व के रूप मे परिभाषित किया है। किन्तु जैसा हम अभी देखेंगे, यथार्थता को दो अर्थों में समझा जा सकता है। प्रथम, जो ज्ञान को वस्तु के प्रतिबिंब के रूप में स्वीकार करते हैं जैसे सांख्य तथा लॉक आदि ने किया है तथा दूसरे जो ज्ञान को वस्तु की प्रतिलिपि तो स्वीकार नहीं करते, किन्तु दोनों में किसी न किसी प्रकार का सामजस्य या अनुरूपता अवश्य स्वीकार करते हैं। हम इन दोनों ही अर्थों को यथार्थता के अन्तर्गत ही स्वीकार करते हैं तथा उन दोनों अर्थों में इस लक्षण पर विचार करेंगे। गगेश ने न केवल तद्वती तद् प्रकारकत्व के रूप में अपनी परिभाषा को स्पष्ट किया है, अपने 'प्रमा लक्षण' के परिच्छेद मे विभिन्न परिभाषाओं को

1. न्याय दर्शन पृष्ठ 14
2. वात्स्यायन भाष्य-न्याय सूत्र 2.1.36

अस्वीकार करने के कारण भी बतलाए हैं। गंगेश ने मुख्य-मुख्य परिभाषाओं को जिस आधार पर अस्वीकार किया है उसकी चर्चा यहाँ पर अप्रासंगिक नहीं होगी।

गंगेश के अनुसार यथार्थता को प्रमा का लक्षण नहीं माना जा सकता। ज्ञान तथा विषय दो बिलकुल भिन्न तत्त्व हैं तथा उनमें समानता नहीं हो सकती।[1] अनधिगतता को प्रमा के लक्षण मानने में गंगेश आपत्ति करते हैं कि हम प्रमा को सामान्यतया अनधिगतता के अर्थ में नहीं समझते। अनधिगतता प्रमा का मुख्य लक्षण नहीं मान‍ा जा सकता। इसके साथ ही साथ यदि अनधिगतता को प्रमा का लक्षण स्वीकार कर लेंगे तो धारावाहिक ज्ञान में किसी भी वस्तु का प्रथम क्षण के ज्ञान के पश्चात् दूसरे क्षण का ज्ञान अप्रमा रूप हो जाएगा। इसी प्रकार अबाधितता को भी प्रमा का लक्षण नहीं माना जा सकता। यदि एक ज्ञान दूसरे ज्ञान से बाधित हो जाता है तो इससे यह निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं है कि इन दोनों ज्ञानों में से कौनसा ज्ञान प्रमा रूप है। संवाद के रूप में भी प्रमा को परिभाषित करना उचित नहीं है। संवाद का अर्थ है एक ज्ञान का अन्य ज्ञान में समान रूप से उल्लेख होना तथा यह भ्रम में भी सम्भव है। कल्पित जगत में विभिन्न ज्ञानों में संवाद होता ही है, किन्तु इससे यह ज्ञान प्रमा रूप नहीं हो जाता। इसी प्रकार, यदि प्रमा को प्रवृत्ति साफल्य के रूप में परिभाषित करें तब जहाँ ज्ञान सत्य होते हुए भी हम प्रवृत्ति में प्रेरित नहीं होते वह ज्ञान अप्रमा रूप हो जाएगा। तत्त्व के अनुभव के रूप में भी प्रमा का लक्षण दूषित है क्योंकि अतत्त्व का कभी अनुभव सम्भव नहीं है तथा इस प्रकार इस परिभाषा के अनुसार प्रमा-अप्रमा का भेद ही समाप्त हो जाएगा। इसी प्रकार, अन्य कई परिभाषाओं की गंगेश ने यहाँ चर्चा की है तथा उनको अस्वीकार करने के लिए अपने तर्क प्रस्तुत किए हैं।

इन सभी परिभाषाओं को अस्वीकार कर गंगेश अपनी परिभाषा तद्वती तद्प्रकारकत्व के रूप में प्रस्तुत करते हैं। पहले वे अपनी परिभाषा को सरल रूप में रखते हुए कहते हैं कि जहाँ जो है वहाँ उसी का अनुभव प्रमा है।[2] अर्थात् यदि क ग में है तो ग में क का ज्ञान प्रमा रूप है। बाद में इसका स्पष्टीकरण करने के लिए अनुयायियों ने सम्बन्ध की भी चर्चा की है तथा वे कहते हैं कि यदि क ग के साथ सम्बन्ध विशेष से स्थित है तो क को ग से उस रूप में सम्बन्धित होने का ज्ञान प्रमा है। उदाहरण के लिए, क तथा ख विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध में स्थित हैं। तब यदि हमारा ज्ञान 'क ख है' इस रूप में है तो वह ज्ञान प्रमा है क्योंकि ज्ञान का जो प्रकार है वह वास्तव में क में विद्यमान है। अब हमें 'यह रजत है' इस

1. [illegible]
2. यत्र यदस्ति तत्र तस्यानुभवः प्रमा

प्रकार का ज्ञान होता है तो रजतत्व जो ज्ञान का प्रकार है, वह रजतत्व वास्तव में 'यह' में तात्विक रूप से विशेषण के रूप मे विद्यमान होना चाहिए।

जैसा कि मोहन्ती[1] ने अपनी भूमिका में स्पष्ट किया है तद्वती तद् प्रकारकत्व में दो विभिन्न भाग दो विभिन्न प्रकार की सत्ताओं की ओर संकेत करते है तद्वती अंश तात्विक स्थिति की ओर संकेत करता है जब कि तत् प्रकारकत्व ज्ञानात्मक स्थिति की ओर। इस प्रकार इस परिभाषा का अर्थ हुआ कि जब ज्ञान का प्रकार तात्विक अथवा वास्तविक स्थिति के अनुरूप हो तो वह ज्ञान प्रमा रूप होता है, किन्तु यदि इन दोनो मे सामंजस्य न हो तो वह ज्ञान अप्रमा रूप होगा। किन्तु इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गंगेश की परिभाषा मूलतः यथार्थता से भिन्न नही है। यथार्थता को कई अर्थों मे समझा जा सकता है, किन्तु इनमें से दो मुख्य हैं तथा इन दोनों ही अर्थों मे (जिनमे गगेश का मत भी शामिल है) यथार्थता के रूप मे प्रमा का लक्षण संतोषप्रद नहीं ठहरता है। अब हम यथार्थता के इन अर्थों पर व्यापक विचार कर प्रमा के लक्षण के रूप मे इसका मूल्यांकन करेंगे।

यद्यपि दर्शन के क्षेत्र में वादो का कोई अन्त नहीं है तथापि यहाँ पर हम मुख्य दो सन्दर्भों को ध्यान मे रख कर प्रमा के बारे मे विचार करेंगे। सबसे प्रथम हम वस्तुवादी विचारधारा को दृष्टिगत रखकर विवेचन करेंगे। वस्तुवादी दार्शनिक सत्तात्मक तथा ज्ञानात्मक दोनों ही दृष्टि से द्वैत को स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार ज्ञान तथा विषय दोनों की ही स्वतन्त्र सत्ता है तथा ज्ञान की दृष्टि से भी विषय तथा ज्ञान दोनों अलग-अलग हैं। ज्ञान तथा ज्ञेय की भिन्नता की इस स्थिति मे यथार्थता प्रमा का बिलकुल ठीक लक्षण प्रतीत होता है। ये लोग मानते हैं कि ज्ञान जब विषय को 'जैसा वह है वैसा ही' प्रकाशित करे तो वह ज्ञान प्रमा तथा जब वह 'वैसा ही प्रकाशित न कर उससे भिन्न किसी अन्य रूप' प्रकाशित करे तो वह अप्रमा होगा। सैद्धांतिक रूप से प्रमा के इस लक्षण में कोई कठिनाई नहीं है। किन्तु यदि यह लक्षण का आवश्यक गुण माना जाय कि उसके आधार पर उस वस्तु को पहचाना जा सके तथा अन्य वस्तुओं से उसकी भिन्नता स्थापित हो सके, दूसरे शब्दो में, वस्तु विशेष मे लक्षण की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति की स्थापना हो सके उस लक्षण का वास्तविक मूल्य होगा तथा जब प्रमा के यथार्थता के रूप मे लक्षण पर हम दृष्टिपात करते हैं तो हमें लगता है कि इस लक्षण मे यही दोष है। सामान्यतया यह बात सभी स्वीकार करेंगे कि किसी भी वस्तु का ज्ञान अथवा उसका प्रकाशन मात्र ज्ञान के रूप मे होता है। यदि हम वस्तु को ज्ञान से स्वतन्त्र तथा भिन्न वस्तु मान लें तब प्रश्न उठता है कि ज्ञान की उस विषय से तुलना किस प्रकार की जाये?

1. गंगेश्स थ्योरी ऑफ ट्रूथ पृष्ठ 45

ज्ञान तथा विषय में एकरूपता की स्थापना उन दोनों की आपस में तुलना करके ही की जा सकती है, किन्तु हम सदैव ज्ञान तक ही सीमित रहते हैं। ज्ञान से परे हटकर विषय का प्रकाशन असम्भव है। अतः हम यदि इस प्रकार की तुलना करना भी चाहें तो एक ज्ञान की दूसरे ज्ञान से ही तुलना कर सकते हैं। ज्ञान की विषय से तुलना एक सर्वथा असम्भव कार्य है। इस पर यह कहा जा सकता है कि यह कठिनाई केवल उस समय उपस्थित होती है जब हम विषय का ज्ञान किसी माध्यम द्वारा स्वीकार करते हैं जैसा कि लॉक, सांख्य आदि दार्शनिकों ने किया है। यदि हम विषय का ज्ञान उसकी किसी प्रतिलिपि के माध्यम से स्वीकार करें तो अनिवार्यतः यह कठिनाई आती है। शिवाजी को हम में से किसी ने भी देखा नहीं है। उनके विभिन्न चित्र ही हमें उपलब्ध हैं। अब इनमें से कौनसा चित्र उनके अनुरूप है तथा कौनसा नहीं, यह केवल उन चित्रों की स्वयं शिवाजी से तुलना करके ही निश्चित किया जा सकता है। किन्तु चूंकि अब शिवाजी नहीं हैं अत यह कार्य असम्भव होने से इसका निर्णय भी असम्भव है कि इन चित्रों में से कौनसा चित्र वास्तविक है तथा कौनसा नहीं। यहाँ पर यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि यदि शिवाजी होते तो चित्र उनके अनुरूप है अथवा नहीं इसका निश्चय सम्भव होता, किन्तु ज्ञान वस्तु के अनुरूप है अथवा नहीं, यह ज्ञान के बाहर जाकर (वस्तु के होने पर भी) निश्चित करना सम्भव नहीं है।

किन्तु हम विषय को ज्ञान में किसी माध्यम से प्रकाशित मानने के लिए बाध्य नहीं है। किसी भी माध्यम का निषेध कर हम यह कह सकते हैं कि विषय सीधा ही अपरोक्ष रूप से बिना किसी माध्यम के ज्ञान में प्रकाशित होता है। हम लॉक की तरह यह न कहकर कि हम विषय को नहीं उसकी प्रतिलिपि को जानते हैं, कह सकते हैं कि हम सीधे विषय को ही जानते हैं और इस प्रकार के मत की अनुभव से स्पष्ट पुष्टि होती है। हमारा अनुभव हमें यह स्पष्ट बतलाता है कि हम विचार (idea) को नहीं विषय को जानते हैं। किन्तु इस मत में फिर प्रश्न उठेगा कि तब क्या समस्त ज्ञान प्रमा रूप ही नहीं हो जाएगा? यदि हमें विषय का ज्ञान बिना किसी माध्यम से अपरोक्ष रूप से होता है तब इसमें भ्रम होने की कोई सम्भावना ही नहीं रहती तथा फिर तो यथार्थता के साथ-साथ यह भी कह देना चाहिए कि प्रत्येक ज्ञान प्रमा रूप ही है। किन्तु इस प्रकार का मतवाद हमारे अनुभव के सर्वथा विपरीत है। हमारे ज्ञान में भ्रम होना सामान्य अनुभव की बात है तथा जब तक किसी भी दर्शन में इस भ्रम की समुचित व्याख्या न हो जाये उस दर्शन को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

भाट्ट-मीमांसक कारण दोषरहितता के रूप में इसका उत्तर देते हैं। उनका कहना है कि विषय का ज्ञान हमें सीधा अपरोक्ष रूप से अवश्य होता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इसके लिए कोई कारण नहीं होता। इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि प्रत्येक

ज्ञान में अपना पूरा योगदान देती हैं। साथ ही बाह्य कारण भी विषय का वास्तविक ज्ञान होने के लिए आवश्यक है। उदाहरण के लिए सामान्य प्रकाश, उचित दूरी आदि भी विषय का सही ज्ञान होने के लिए आवश्यक हैं। यदि ये समस्त कारण सामान्य हैं तो ज्ञान प्रमा रूप ही होगा तथा उस ज्ञान में यथार्थता होगी। इस प्रकार यथार्थता को अव्यावहारिक लक्षण न माना जाकर व्यावहारिक लक्षण के रूप मे ही स्वीकार किया जाना चाहिए।

अस्तु, यहाँ पर हम देखते हैं कि परिभाषा का बल यथार्थता पर न होकर कारण दोषरहितता पर हो जाता है। यथार्थता एक ऐसा लक्षण न होकर, जिसकी कि स्थापना सीधी ज्ञान के द्वारा हो सके एक मान्यता मात्र रह जाती है। हम यह मान लेते हैं कि जहाँ ज्ञान के कारण मे दोष नहीं होता वहाँ ज्ञान में यथार्थता ही होती है। किन्तु यदि ऐसा ही है तब हम कारण दोषरहितता को ही क्यों न प्रमा का लक्षण मानें, व्यर्थ में यथार्थता को क्यों बीच में लाएँ। हम देखते हैं कि भाट्टों ने इसलिए कारण दोषरहितता पर ही प्रमा के लक्षण रूप में बल दिया है, यथार्थता पर नहीं।

ज्ञान में विषय के इस प्रकार सीधे प्रकाशन की सन्तोषप्रद व्याख्या भी सम्भव नहीं हो सकी है। जब ज्ञान प्राप्त करने के इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि अनेक माध्यम मान लिए गए हैं तब निश्चित ही विषय का वह ज्ञान अपरोक्ष तथा साक्षात् नहीं माना जा सकता। यदि ज्ञाता बिना किसी की सहायता अथवा माध्यम के विषय के सीधे ही सन्निकर्ष में आता तब तो फिर भी इस सिद्धांत को कुछ बल मिल सकता था। किन्तु उस समय यह व्याख्या अनुभव से बहुत दूर चली जाती क्योंकि हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि विषय के प्रकाशन में इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि का आवश्यक योगदान होता है।

जैन दार्शनिक अवश्य यह स्वीकार करते हैं कि बिना किसी माध्यम के विषय का साक्षात् ज्ञान जीव का सहज स्वभाव है। इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि इस दृष्टि से विषय के वास्तविक तथा पूर्ण स्वरूप को प्रकाशित करने मे बाधक हैं। कर्मों का समस्त आवरण जब जीव से दूर जाता है तब समस्त विषय जीव को पूर्ण तथा वास्तविक रूप में प्रकाशित होते हैं। इस प्रकार, इस दर्शन के अनुसार यथार्थता को प्रमा का लक्षण माना जा सकता है। किन्तु जैन दार्शनिक स्वयं भी प्रमा के इस पारमार्थिक स्वरूप के साथ ही साथ उसका व्यावहारिक रूप भी मानते हैं। यद्यपि वास्तविक दृष्टि से पारमार्थिक ज्ञान ही प्रमा रूप है, व्यावहारिक दृष्टि से भी हम प्रमा की चर्चा कर सकते हैं। पारमार्थिक ज्ञान मे जैसा कि हमने संकेत किया, भ्रम या संशय की कोई सम्भावना नहीं है। निर्मल मन से प्रकाशित हुआ ज्ञान सदैव भ्रमरहित तथा पूर्णतया प्रमा रूप होगा। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से प्राप्त हुआ

ज्ञान प्रमा तथा अप्रमा रूप दोनों हो सकता है तथा चूंकि इस ज्ञान में इन्द्रियों आदि का माध्यम रहता है यह ज्ञान वास्तव में अपरोक्ष कोटि का नहीं माना जा सकता।

अब प्रश्न उठता है कि क्या विज्ञानवादी दार्शनिक भी यथार्थता को प्रमा के लक्षण के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। विज्ञानवादी दार्शनिक भी द्वैतवादी तथा अद्वैतवादी दोनों प्रकार के हो सकते हैं। विज्ञानवाद का द्वैतवाद से कोई विरोध नहीं है। जब मैं स्वयं अपने ज्ञान को अनुव्यवसाय के द्वारा जानता हूँ तब यहाँ ज्ञाता तथा ज्ञेय दोनों ही विज्ञान रूप हैं। एक विज्ञान में दूसरा विज्ञान प्रकाशित होता है। इसी प्रकार यदि हम जगत् को ईश्वर का संकल्प मात्र मानें तब यह कहा जा सकता है कि ईश्वर का संकल्प जो विज्ञान रूप ही है, हमें विषय रूप में ज्ञात हो रहा है। इस प्रकार की विचारधारा में यथार्थता को प्रमा का लक्षण मानने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए। बर्कले ने भी पूर्णतः विज्ञानवादी होते हुए भी प्रमा व अप्रमा में भेद किया ही है। इसी प्रकार, वेदांत परिभाषा के अनुसार भी जब घट चैतन्य घट चैतन्य रूप में ही प्रकाशित हो तो वह प्रमा तथा कारणवश वह घट चैतन्य रूप में प्रकाशित न होकर इससे भिन्न अन्य रूप में प्रकाशित हो तो वह अप्रमा कहलाता है। किन्तु इतना होते हुए भी धर्मराज स्वयं यथार्थता को प्रमा का लक्षण मानने की कठिनाइयों से बचना चाहते हैं। अतः वे यथार्थता की चर्चा न करते हुए अबाधितता को प्रमा का लक्षण स्वीकार करते हैं। वास्तव में द्वैतवादी विज्ञानवाद में भी यथार्थता को लेकर वही सब कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं जो वस्तुवादी दर्शन में। विषय को चाहे वह विज्ञान रूप हो या इससे भिन्न, उस ज्ञान से जिसमें वह प्रकाशित होता है, दूरी बनी ही रहती है तथा इस दूरी को समाप्त करना एक बड़ी समस्या है। गंगेश ठीक कहते हैं कि ज्ञाता तथा विषय दो भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं तथा इन दोनों में किसी भी प्रकार की समानता की चर्चा नहीं की जा सकती, किन्तु यही तथ्य प्रमा को यथार्थता के रूप में मान्य करने में सबसे बड़ी बाधा है, इसकी ओर उनका ध्यान नहीं गया। यदि यथार्थता को प्रमा का लक्षण मान भी लें तब भी उसका निर्णय तो अबाधितता के द्वारा ही सम्भव होता है। तब यथार्थता को प्रमा का लक्षण माना ही क्यों जाय? क्यों न हम सीधे अबाधितता की ही बात करें।

अद्वैतवादी विज्ञानवाद किसी सार्थक अर्थ में प्रमा-अप्रमा के भेद को स्वीकार नहीं कर सकता। जब विषय ज्ञाता से भिन्न है ही नहीं, मात्र ज्ञान अपने आपको अपने सामने ही प्रकाशित करता है तब जो कुछ प्रकाशित हो रहा है वही सत् है। यहाँ पर भ्रम के या असत् के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। किन्तु किसी भी भारतीय दर्शन ने व्यावहारिक स्तर पर इस प्रकार के अद्वैतवाद की स्थापना नहीं की है। पारमार्थिक स्तर पर प्रमा-अप्रमा का भेद न रहने पर भी व्यावहारिक स्तर पर

यह भेद रहता है तथा व्यावहारिक दृष्टि से प्रमा का यह प्रश्न उठता ही है इसे लगभग सभी भारतीय दार्शनिकों ने स्वीकार किया है।

अस्तु, हम देखते हैं कि चाहे वस्तुवादी सन्दर्भ हो अथवा विज्ञानवादी, यथार्थता के रूप में प्रमा को परिभाषित करने का कोई विशेष व्यावहारिक मूल्य नहीं है। केवल इस लक्षण के आधार पर हम प्रमा को अप्रमा ज्ञान से अलग नहीं कर सकते। वास्तव में हम जिस विधि से प्रमा को अप्रमा से अलग करते हैं उसी रूप में प्रमा का लक्षण करना चाहिए। यथार्थता की इस स्थापना के लिए मुख्यरूपेण दो विधियाँ विभिन्न दार्शनिकों ने स्वीकार की है। यहाँ पर अब हम इन्हीं विधियों पर विचार करेंगे कि उनमें से कौनसी विधि प्रमा को अप्रमा से अलग से समझने की सबसे अधिक सन्तोषप्रद विधि है। ये दो विधियाँ—उपयोगिता तथा अबाधितता हैं।

प्रमा का एक मुख्य लक्षण प्रयोजक पूरकता या अर्थक्रियाकारित्व स्वीकार किया गया है। नैयायिक तथा बौद्ध दार्शनिक सम्यक् ज्ञान का मानदंड मुख्यरूपेण इसी प्रकार निर्धारित करते हैं। किन्तु चूँकि नैयायिक वस्तुवादी तथा योगाचार बौद्ध प्रत्ययवादी हैं, उनके प्रयोजनपूरकता के अर्थ में भी उनके दार्शनिक दृष्टिकोणों के अनुसार भिन्नता आ गई है। नैयायिकप्र जब प्रामाण्य को परतः स्वीकार कर उसकी स्थापना अनुमान के द्वारा करते हैं तब मुख्यतया प्रयोजन की पूरकता के द्वारा ही उस प्रामाण्य की स्थापना होती है। नैयायिकों की मान्यता है कि अनुभव के द्वारा हम जानते हैं कि वस्तु विशेष में विशेष प्रकार के गुण होते हैं तथा उन गुणों के द्वारा वह वस्तु हमारे प्रयोजन विशेष की पूर्ति में सक्षम है। साथ ही वे यह भी मानते हैं कि हमारा प्रत्येक ज्ञान सप्रयोजन होता है। जब हमें प्यास लगती है तब हम यह जानने का प्रयास करते हैं कि पानी कहाँ है अथवा उस समय हमारा ध्यान सामने रखे हुए घट की ओर आकर्षित होता है जिसमें पानी भरा हुआ है। उस जल का ज्ञान होने पर हम क्रिया में प्रवृत्त होते हैं। उस घट के जल को पीते हैं। यदि वह जल हमारी तृषा को शांत कर देता है तो प्रयोजन की पूर्ति हो जाने से हमारा वह ज्ञान प्रमा रूप माना जायेगा। किन्तु, मान लीजिए, उस घट में जो द्रव है उसे पीने से न तो हमें जल जैसा स्वाद ही आया और न तृषा ही शांत हुई, तब हमारा प्रयोजन पूर्ण न होने से जल के रूप में उस वस्तु का ज्ञान अप्रमा होगा। संक्षेप में, प्रत्येक वस्तु से हमें उसके गुणों के आधार पर कुछ आकांक्षाएँ होती हैं। हम जल से यह आकांक्षा करते हैं कि इसे पीने से एक विशेष प्रकार का स्वाद आएगा। इसमें पैर डालने पर हमारे पैर भीग जायेंगे। इससे स्नान कर शरीर स्वच्छ किया जा सकता है तथा कपड़े धोए जा सकते हैं तथा पीने पर यह हमारी तृषा को शांत करता है। हम पानी के ज्ञान का प्रमात्व इन विभिन्न आकांक्षाओं को पूरा कर जान सकते हैं।

किन्तु हम देखते हैं कि प्रयोजन-पूरकता प्रमा का स्वयं में स्वतन्त्र मानदंड नहीं हो सकता। किसी ज्ञान की इस मानदंड से परीक्षा करने से पहले हमें यह विदित होना आवश्यक है कि अमुक वस्तु में अमुक गुण हैं तथा इसलिए वह हमारे अमुक प्रयोजन की पूर्ति करने की क्षमता रखती है। किन्तु यह जो हमारा पूर्व-उपलब्ध ज्ञान है, जिसे आधार बना कर उपयोगितावाद का सिद्धान्त व्यवहार रूप में लागू होता है, वह प्रमारूप ही है, इसका कैसे निर्णय किया जाये? इस प्रकार उपयोगितावाद के सिद्धांत में आत्माश्रयता का दोष है। उपयोगिता की कसौटी पूर्व अनुभव के प्रामाण्य को स्वीकार कर अपनाई जाती है, किन्तु साथ में वह स्वयं भी प्रत्येक ज्ञान के प्रामाण्य का मानदंड होने का दावा करती है।

भाट्ट मीमांसकों ने उपयोगितावाद की कटु आलोचना की है। नारायण[1] का कहना है कि प्रमा की यह परिभाषा अतिव्याप्त है क्योंकि स्मृति की भी उपयोगिता है अतः इस परिभाषा के अनुसार स्मृति ज्ञान भी प्रमा की कोटि में आ जाएगा। आगे नारायण ने इस लक्षण को अव्याप्त भी बतलाया है। उनका कहना है कि हमें अनुमान के द्वारा कई भूतकालीन तथा भविष्यत्कालीन वस्तुओं का ज्ञान होता है तथा चूंकि इन वस्तुओं का वर्तमान में कोई अस्तित्व नहीं है उनकी कोई उपयोगिता न होने के कारण उनका ज्ञान अप्रमा रूप ही होगा, किन्तु ऐसा मानना उचित नहीं है। स्वयं उपयोगितावादी भी इस प्रकार के ज्ञान को अप्रमा रूप स्वीकार नहीं करते। किन्तु नारायण का यह तर्क भी संगत प्रतीत नहीं होता। उपयोगितावाद का सही अर्थ यह है कि प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप से अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करती है तथा उस प्रभाव के द्वारा ही उस वस्तु के उस रूप का होने का निर्णय किया जाता है। भूतकालीन वस्तुएँ यद्यपि स्वयं में नष्ट हो जाती हैं फिर भी उनका प्रभाव किसी न किसी प्रकार रक्षित रहता है तथा इस प्रभाव के माध्यम से ही उस वस्तु के बारे में ज्ञान होता है। यदि किसी वस्तु का समस्त प्रभाव पूर्णरूपेण नष्ट हो जावे तो अनुमान के द्वारा कदापि उस वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता है। जहाँ तक भविष्य की वस्तु के ज्ञान की बात है वह वास्तव में वर्तमान वस्तु के किसी प्रभाव के रूप में ही ज्ञात होता है तथा बाद में घटित होने पर हमारे ज्ञान का प्रामाण्यीकरण होता है। मानसून की दिशा तथा चाल से जब हम यह अनुमान करते हैं कि लगभग पन्द्रह दिन बाद राजस्थान में वर्षा होगी तब यह घटना वास्तव में इस समय वर्तमान मानसून के प्रभाव का ही अनुमान है।

मुरारि मिश्र[2] का [illegible] कहना है कि यदि प्रमा का लक्षण उपयोगिता ही स्वीकार

1 मानमेयोदय पृष्ठ 7

2 [illegible] 2.76

किया जाय तो जो वस्तु क्षण भर ही स्थित रहती है तथा दूसरे क्षण ही नष्ट हो जाती है उसका ज्ञान सदैव ही अप्रमा रूप होगा क्योंकि उससे किसी प्रयोजन की पूर्ति नहीं होसकती है। उदाहरण के लिए, आकाश में क्षण भर के लिए बिजली चमकती है तथा तत्काल ही वह विलीन हो जाती है, इसका ज्ञान अप्रमा रूप ही होगा। किन्तु इस तर्क में भी कोई बल नहीं है। किसी भी प्रयोजन की पूर्ति के लिए यह आवश्यक नही है कि उसकी सत्ता बहुत काल तक रहे ही। क्षणिक वस्तुएँ भी हमारे प्रयोजन की पूर्ति कर सकती हैं। आकाश मे बिजली चमकने के उदाहरण को ही लें, कई बार इस बिजली से हमारे कई प्रयोजन पूरे हो जाते हैं। अंधेरे में चलते हुए यह बिजली हमारा मार्ग प्रदर्शन कर जाती है तथा सम्भवतः अंधेरे में हमारे समीप ही सर्प आदि का ज्ञान करा, हमें उस खतरे से बचा जाती है।

उम्बेक[1] का कहना है कि यदि उपयोगिता या प्रयोजनपूरकता को ही प्रमा का मानदण्ड माना जाय तो जिस व्यक्ति को प्यास नहीं है उसका पानी का ज्ञान अप्रमा रूप हो जाएगा क्योंकि इससे उसके किसी भी प्रयोजन की पूर्ति नहीं होती तथा साथ ही स्वप्न में पानी का ज्ञान प्रमा रूप हो जाएगा क्योंकि स्वप्न में वह व्यक्ति उस पानी को पीकर अपनी तृषा शांत करता है।

न्याय तथा बौद्धों के सिद्धांत तथा उस पर किये गए आक्षेपों को समझने के लिए कुछ बातें ध्यान में रखना आवश्यक है। बौद्धों के अनुसार सत् वस्तु का लक्षण अर्थ-क्रियाकारित्व है। प्रत्येक सत् वस्तु किसी न किसी कार्य को अवश्य जन्म देती है तथा इसके विपरीत असत् वस्तु किसी भी कार्य को जन्म नहीं दे सकती। इसी प्रकार न्याय को भी यह बात स्वीकार है कि प्रत्येक कार्य रूप वस्तु का उसके कारण रूप वस्तु से भेद उसके विभिन्न व्यवहार के द्वारा ही होता है। मिट्टी से वह प्रयोजन सिद्ध नहीं होता जो घट से होता है। मिट्टी मे पानी नही भरा जा सकता, घट में पानी भरा जाता है। इसी आधार पर इन्होने असत् कार्यवाद की स्थापना भी उन्होने की है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि न्याय में भी विभिन्न वस्तुओं की अपनी स्थिति उनके द्वारा संभव व्यवहार अथवा प्रयोजनपूरकता को लेकर ही है। किसी भी वस्तु की पहचान उसके द्वारा उत्पन्न इस प्रभाव या प्रयोजनपूरकता से ही होती है।

यह तो हुई सत् वस्तु के लक्षण की बात। जहाँ तक हम वस्तु के ज्ञान का प्रश्न है, ये लोग स्वीकार करते हैं कि हमारा ज्ञान कभी भी निष्प्रयोजन नहीं होता। जब हम किसी न किसी प्रयोजन से प्रेरित होते हैं तभी हम ज्ञान के लिए प्रवृत्त होते हैं। जैसा कि हमने पहले संकेत किया, हमारे सामने घट होते हुए भी हम उस समय तक उसके प्रति उदासीन रहते हैं जब तक हमें प्यास नहीं लगती। जब हमें प्यास की अनुभूति

1. तात्पर्य टीका पृष्ठ 65

होती है तब हमारे मन में उस घट तथा उसमें भरे हुए पानी का ज्ञान प्राप्त कर हमारी प्यास शांति करने के प्रयोजन को हम पूरा करते हैं। यदि उस घट में पानी मिल जाता है तथा उससे हमारी प्यास शांत हो जाती है तो हम उस ज्ञान को प्रमा रूप स्वीकार कर लेते हैं किन्तु यदि उसमें भरे हुए द्रव से हमारी प्यास शांत नहीं होती बल्कि और भी भिन्न रूप से अनुभूति होती है तब हम उस ज्ञान को प्रमा रूप न मान कर अप्रमा रूप मानते हैं।

भाट्टों की आलोचना के संदर्भ में मुख्य प्रश्न यह है कि हम प्रमा किसे कहें ? यदि हम यह स्वीकार करें जैसा कि न्याय तथा बौद्ध दोनों मानते हैं कि किसी भी ज्ञान में जब तक निश्चितता या संशयरहितता, तथा अनधिगतता की अनुभूति न हो वह प्रमा नहीं होता, तब हम यह पूछ सकते हैं कि बिना किसी प्रयोजन से किसी भी वस्तु से सामना होने पर जो अनुभूति होती है उसमें क्या ये प्रमा के उपरोक्त लक्षण होते हैं ? क्या हम कह सकते हैं कि इस प्रकार के ज्ञान के साथ निश्चितता की भावना सदैव रहती है ? यहाँ पर यह भी ध्यातव्य है कि न्याय तथा बौद्ध दोनों परतः प्रामाण्यवादी हैं तथा वे बड़े जोरों के साथ तर्क करते हैं कि किसी भी वस्तु की अनुभूति मात्र उस ज्ञान को प्रमा की कोटि में नहीं ला देती। न्याय के अनुसार इस प्रकार का अपरीक्षित ज्ञान न प्रमा रूप ज्ञात होता है और न अप्रमा रूप। बौद्धों के अनुसार इस प्रकार का ज्ञान अप्रमा रूप ही कहा जाना चाहिए। इस प्रश्न पर विस्तार से हम आगामी अध्याय में विचार करेंगे। *यहाँ पर हम यही कहना* चाहते हैं कि न्याय तथा बौद्धों की प्रमा की परिभाषा इस दृष्टि से उनके परतः प्रामाण्यवाद के अनुकूल ही है। तथा जिस प्रकार के तर्क भाट्टों ने उनके विरुद्ध प्रस्तुत किए हैं उनसे उनके मत का खंडन नहीं होता। भाट्टों के उत्तर में वे लोग नि:संकोच कह सकते हैं कि बिना प्यास के यदि वैसे ही किसी व्यक्ति को पानी का ज्ञान हो जाता है तथा प्रयोजन के अभाव में यदि वह उस ज्ञान का प्रामाण्यीकरण नहीं करता तो उस अनुभूति को कदापि प्रमा की कोटि में नहीं रखा जा सकता।

यथार्थता की कठिनाइयों को ध्यान में रखने पर तथा उपयोगितावाद का केवल सापेक्षवादी महत्व होने से हमारे पास प्रमात्व अथवा यथार्थता को निर्धारित करने का मात्र एक उपाय बच रहता है तथा वह है कि किसी न किसी प्रकार हम ज्ञान से परे न जाते हुए भी प्रमात्व का निर्धारण कर सकें। इस मत का वास्तव में वस्तुवाद अथवा विज्ञानवाद की सत्ता-मीमांसा से सीधा सम्बन्ध नहीं है। सौत्रांतिक बौद्ध विज्ञान से स्वतन्त्र बाह्य वस्तु की वास्तविक सत्ता को स्वीकार करते हुए भी व्यावहारिक स्तर पर उसका प्रत्यक्ष के रूप में अपरोक्ष ज्ञान स्वीकार नहीं करते। उस बाह्य सत्ता को वे अनुमान के द्वारा सिद्ध मानते हैं। वस्तु की बाह्य सत्ता होना

एक बात है तथा उसका अपरोक्ष ज्ञान होना दूसरी बात। सम्भवतः इसी बात को ध्यान मे रखकर प्रत्ययवादियों के साथ-साथ वस्तुवादियों ने भी प्रमा के लक्षण के रूप में अविसंवाद को महत्त्व दिया है। यह अविसंवाद भी दो प्रकार से देखा गया है—व्यवहार अविसंवाद तथा ज्ञान अविसंवाद जिसे दूसरे शब्दों में अबाधितता भी कह सकते हैं। वास्तव में, यह दोनों प्रकार के अविसंवाद परस्पर अत्यधिक घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। ज्ञान की अबाधितता भी प्रायः व्यवहार के अविसंवाद के रूप में ही परिलक्षित होती है। किसी वस्तु का ज्ञान शून्य मे प्राप्त नहीं होता बल्कि व्यवहार में ही होता है। पहले हमे किसी वस्तु का सर्प रूप में ज्ञान होता है उससे हमे कुछ आकांक्षा होती है तथा हम क्रिया में विशेष रूप मे प्रवृत्त होते हैं तथा व्यवहार अथवा क्रिया एवं उसके ज्ञान का यह क्रम निरंतर चलता रहता है। इस समस्त व्यवहार तथा उसके साथ ही उसके ज्ञान में यदि संवाद होता है तो वह ज्ञान प्रमा रूप तथा यदि इसमें किसी भी स्तर पर विसंवाद होने पर वह ज्ञान अप्रमा रूप माना जाता है।

जैसा कि हमने अभी कहा, अविसंवाद को प्रमा का लक्षण लगभग सभी दार्शनिक स्वीकार करते हैं।

अबाधित विषय ज्ञान को प्रमा की कसौटी मानी जाय अथवा नहीं इस प्रश्न पर दो दृष्टि से विचार किया जा सकता है। प्रथम, वस्तुवादी परिप्रेक्ष्य में तथा दूसरा, विज्ञानवादी परिप्रेक्ष्य में। वस्तुवादी दार्शनिकों के अनुसार वस्तु की बाह्य सत्ता है तथा ज्ञान उस वस्तु को प्रकाशित मात्र करता है। ज्ञान का विषय सदैव ज्ञान से स्वतन्त्र सत्ता रखता है जिसका अपना निश्चित स्वरूप होता है। ज्ञान कभी इस विषय को जैसा है वैसा ही प्रकाशित करता है, किन्तु कभी-कभी भ्रम में वह अन्यथा भी प्रकाशित होता है। जब ज्ञान विषय को जैसा है वैसा ही प्रकाशित करे तब वह प्रमा तथा जब उसे अन्यथा प्रकाशित करे तब वह अप्रमा कहलाता है। प्रमा को इस प्रकार परिभाषित करने की अपनी विशेषताएँ तथा कठिनाइयाँ हैं जिन पर हम आगे विचार करेंगे। प्रस्तुत प्रश्न यह है कि इस यथार्थता का निश्चय किस प्रकार हो तथा इसका एक उत्तर दिया जा सकता है अबाधितता के रूप में। यह बात सर्वमान्य है कि कोई भी वस्तु दो विरोधी स्वभाव वाली नहीं हो सकती। एक ही वस्तु एक साथ सर्प तथा रज्जु नहीं हो सकती। किन्तु अबाधितता का केवल इससे काम नहीं चलता। इस दृष्टि से तो कभी कोई ज्ञान अप्रमा रूप होगा ही नहीं क्योंकि एक वस्तु का एक साथ ही सर्प तथा रज्जु रूप मानना सर्वथा असंभव है। भ्रम में रज्जु ज्ञान तथा सर्प ज्ञान एक काल में नहीं अलग-अलग काल मे भासित होते हैं। पहले हमें एक वस्तु सर्प रूप भासित होती है, किन्तु बाद में वही वस्तु रज्जु रूप भासित होती

है। तथा इस प्रकार प्रथम ज्ञान का जो काल क में घटित हुआ था दूसरे ज्ञान से जो काल ख में घटित हुआ है बाध हुआ है। इन दोनों ज्ञानों का निर्देश एक ही होना आवश्यक है। एक ही वस्तु प्रथम सर्प तथा फिर रज्जु भासित होना चाहिए अन्यथा इन दोनों ज्ञानों में बाध नहीं होगा। मैं पहले क्षण कमरे के एक कोने में सर्प देखता हूँ तथा फिर दूसरे कोने में रस्सी तो चूंकि ये दोनों ज्ञान एक ही वस्तु के नहीं हैं अतः इनमें बाध नहीं माना जायेगा।

तब प्रश्न उठता है कि यह एक ही वस्तु क्या है तथा इसका निर्णय कैसे किया जाय कि काल क में घटित हुआ ज्ञान तथा काल ख में घटित हुआ ज्ञान एक ही वस्तु का है। जैसा कि शंकर ने कहा है द्रव्य तथा उसके गुणों का हमें अलग-अलग ज्ञान नहीं होता। ऐसी अवस्था में यदि एक काल में मुझे एक प्रकार के गुणों का ज्ञान होता है तथा दूसरे काल में दूसरे गुणों का तब जैसा कि हमने अभी कहा, इन दोनों ज्ञानों में वास्तव में कोई विरोध नहीं स्वीकार किया जा सकता, जब तक कि हम साथ ही इस बात को भी न मान लें कि जगत् में परिवर्तन सम्भव ही नहीं है। किन्तु यथार्थवादी भूमिका में परिवर्तन को स्थान न देना आत्म विरोधी प्रतीत होता है। तथा इस प्रकार परिवर्तन को स्वीकार कर लेने पर यह मानने में कोई विरोध नहीं है कि जो वस्तु अभी तक पीली थी अब लाल या नीले रूप में परिवर्तित हो गई है अतः पूर्वक्षण में पीलेपन का जो ज्ञान था उसके स्थान पर अब लालपन या नीलेपन का जो ज्ञान उत्पन्न हो रहा है उसमें कोई विरोध नहीं कहा जा सकता तथा इस प्रकार अबाधितता इस दृष्टि से प्रमात्व की कसौटी या लक्षण नहीं माना जा सकता।

इस पर यदि कोई यह कहे कि वस्तु में परिवर्तन पूर्णरूपेण नहीं होता, परिवर्तित होते हुए भी उसका मुख्य स्वरूप वैसा ही रहता है तब वह यह मानते हैं कि गाय में हर क्षण वृद्धि आदि रूप परिवर्तन होते रहते हैं। उसके रंग, रूप आदि में भी कुछ परिवर्तन निरंतर संभव है किन्तु गाय में कभी भी इतने परिवर्तन नहीं हो सकते कि वह गाय के स्थान पर भैंस रूप प्रतीत होने लगे। अस्तु, जब एक ज्ञान दूसरे ज्ञान से इस प्रकार बाधित हो कि वह भिन्न वस्तु के रूप में ही ज्ञात होने लगे तब वह ज्ञान का बाध माना जाकर अप्रमा रूप होगा जबकि यदि परिवर्तन इतना कम हो कि उससे विषयवस्तुता में परिवर्तन न हो तब वह बाध नहीं माना जायेगा।

किन्तु प्रथम तो यह मानना ही गलत है कि भ्रम हमें केवल बड़ी कोटि का ही हो सकता है। भ्रम चाहे न्यून हो या अधिक भ्रम ही है। तात्विक दृष्टि से यह मान्यता कोई बल नहीं रखती कि यदि गाय की जगह भैंस की प्रतीति हो तो वह भ्रम कहा जायेगा जबकि यदि वह शरीर के स्थान पर भूरा लगे तो वह भ्रम नहीं कहा जा सकेगा तथा यह रेखा कहाँ पर निर्धारित होगी कि अमुक स्तर तक का

परिवर्तन उसे अप्रमा नहीं बनायेगा तथा उस सीमा को पार करने पर ही वह अप्रमा की कोटि मे आयेगा साथ ही गाय तथा भैंस मे भी कई गुणों में इतनी समानता होती है कि यह परिवर्तन संभवतः इतना अधिक न लगे कि प्रथम ज्ञान प्रमा तथा दूसरा अप्रमा रूप माना जाये।

किन्तु यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि वस्तु को उसके कुछ विशेष लक्षणों द्वारा पहचाना जाता है। भैंस के गले में गलकबल नहीं होती जबकि गाय के गले में वह सदैव विद्यमान होती है तथा इसी प्रकार के अन्य लक्षण गाय को भैंस से अलग करते हैं तथा उनका भेद समझ कर ही गाय को जो हम पहले भैंस रूप देख रहे थे उसका भेद कर प्रथम ज्ञान को अप्रमा तथा द्वितीय को प्रमा रूप स्थापित किया जाता है। किन्तु यह उत्तर भी संतोषप्रद नहीं है। प्रथम तो संसार में प्राणियों के बीच में निरंतरता है तथा हमें सदैव गाय तथा भैंस के बीच के प्राणी मिल जाएँगे जिन्हें दोनों ही कहा जा सकता है अतः इस आधार पर प्रमा-अप्रमा के भेद को तार्किक रूप देना कठिन होगा। दूसरे, जैसा अभी कहा गया भ्रम केवल वस्तु की समग्रता को लेकर ही नहीं, अलग-अलग गुणों को लेकर भी होता है। गाय को भैंस रूप में देखना वैसी ही अप्रमा है जैसा सफेद गाय को भूरी गाय के रूप मे देखना।

वास्तव में अबाधितता के पीछे मूल मान्यता यह है कि परिवर्तन कभी भी अकारण नहीं होता। माना कि हमने कुछ क्षण पहले एक वस्तु देखी वह लाल थी, कुछ देर बाद वही सफेद प्रतीत होने लगी। किन्तु जब हम देखते हैं कि इस समय वर्षा हो रही है तथा वर्षा से उस वस्तु का रंग धुल जाना सम्भव है तथा इस प्रकार लाल वस्तु के सफेद भासित होने में कोई विरोध नहीं है तब प्रथम ज्ञान अप्रमा रूप नहीं माना जाता। किन्तु यदि हमें ज्ञान के इस परिवर्तन का कोई कारण दिखलाई नहीं देता तब हम पूर्वज्ञान को अप्रमा रूप ही मानते हैं। इसी प्रकार हम जानते हैं कि सामान्य परिस्थिति मे किसी वस्तु मे कितने परिवर्तन की अपेक्षा की जा सकती है उतना ही परिवर्तन यदि हमें परिलक्षित हो तब हम दोनों ज्ञानों को प्रमा रूप ही मानते हैं किन्तु यदि यह परिवर्तन इतना अधिक हो कि उसकी व्याख्या सम्भव नहीं हो तब पूर्व ज्ञान अप्रमा रूप माना जाता है। मेरे घर की बेल मे रात में सामान्यतया कुछ वृद्धि अवश्य होती है अत. प्रात. उठने पर यदि मैं उसमे कुछ पत्तियाँ और देखूँ तब मुझे रात के ज्ञान का निश्चय नहीं होना, किन्तु रात को एक फुट लम्बी बेल प्रात. दस फुट लम्बी प्रतीत होने लगे तब निश्चित ही रात को मुझे भ्रम हो गया था ऐसा मानता हूँ।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि अबाधितता की यह कसौटी व्यापक रूप मे हमारे सम्मुख आती है। यदि दो ज्ञानों में विरोध है तो इस विरोध की कोई न कोई

व्याख्या अवश्य उपलब्ध होनी चाहिए। जिस बाध की कोई व्याख्या न हो उसे ही अप्रमा रूप माना जाएगा। किन्तु हमारा ज्ञान सदैव अपूर्ण होता है। हो सकता है, किसी बाध की व्याख्या हमें अभी उपलब्ध नहीं है तथा इस प्रकार हम उसे अप्रमा रूप मानते हैं, आगे चलकर उसकी व्याख्या हमे मिल जावे तथा उस अप्रमा ज्ञान को तब प्रमा रूप मानने के लिए हमें बाध्य होना पड़े। अतः अंततः ज्ञान की समग्रता में अबाधितता या सामंजस्य ही प्रमा का सही लक्षण या मानदण्ड स्थापित होता है।

भारत में केवल बौद्धों ने ही सही अर्थों में विज्ञानवादी ज्ञान मीमांसा को विकसित किया है। अद्वैत वेदान्ती चैतन्यवादी होते हुए भी व्यावहारिक स्तर पर पूर्ण रूपेण वस्तुवादी हो गए हैं तथा जैसा कि हम कह चुके हैं, अद्वैत वेदान्त में पारमार्थिक दृष्टि से कोई ज्ञान मीमांसा बनती ही नहीं है। पारमार्थिक ज्ञान त्रिपुटी रहित ज्ञान होता है जहाँ ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय का भेद नहीं होता। उस स्थिति में किसी ज्ञाता को कोई विषय प्रकाशित होता है ऐसा नहीं कहा जा सकता है। वह स्थिति चिन्मात्र की स्थिति है जिसमें किसी प्रकार का भेद ग्रहण नहीं होता। इसलिए अद्वैत वेदान्त में जो भी ज्ञान-मीमांसा की चर्चा हुई वह व्यावहारिक दृष्टि से ही हुई जिसमे ज्ञाता को कोई विषय जो उससे भिन्न है प्रकाशित होता है। धर्मराज ने वेदान्त परिभाषा के प्रारम्भ में ही इस बात को स्पष्ट कर दिया है।[1]

इसके विपरीत धर्मकीर्ति तथा उसके अनुयायियों ने विज्ञानवादी विचारधारा के अन्तर्गत ही अपनी ज्ञान-मीमांसा को विकसित किया है। न्याय बिंदु का अनुवाद तथा टीका प्रस्तुत करने से पूर्व डा० गोविन्दचन्द्र पांडे[2] बौद्धों के इस मत को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं "सम्यक् ज्ञान की दो स्थितियाँ हैं—प्रमाण और प्रमाण फल। प्रमाण स्वयं ज्ञान स्वरूप है। विषय का ग्रहण आकृति विज्ञान के उदय से होता है।" प्रमाण विषय को प्रदर्शित कर हमारे ध्यान को उस विषय की ओर आकर्षित करता है तथा इस प्रदर्शन के द्वारा हम विषय के निश्चय तक पहुँचते हैं। "यह निश्चय अथवा अध्यवसाय विज्ञान को विषय ग्राहक विज्ञान और उसकी ग्राह्य आकृति को विषय के रूप में व्यवस्थित करता है।"[3] कहने का आशय है कि प्रमाण हमारा ध्यान जिस विषय की ओर आकर्षित करे यदि बाद में उसी विषय का निश्चय भी हो तो वह ज्ञान प्रमा रूप कहलाता है, किन्तु यदि प्रमाण ने पहले जिस विषय की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है अथवा प्रमाण में जो विषय प्रदर्शित

1. प्रत्यक्ष परिच्छेद
2. तत्त्व-चिन्तन, वर्ष 3 अंक 2 पृ: 119
3. वही पृ: 119

हुआ है, यदि निश्चय उसके विपरीत अन्य विषय का हो तो वह ज्ञान अप्रमा रूप होता है। उदाहरण के लिए, पहले हमारे मन में सर्प विषय प्रदर्शित हुआ। सर्प के प्रदर्शित होने पर उसके विषय में जो निश्चय हो वह भी सर्प रूप ही हो तो वह प्रमा होगा किन्तु यदि इसके पश्चात् जो निश्चय हो वह सर्प रूप न होकर रस्सी रूप हो तथा हमारा अध्यवसाय 'यह सर्प है' इस रूप का न होकर 'यह वास्तव में रस्सी है' इस रूप का हो तो वह अप्रमा रूप होगा। इस प्रकार, जैसा कि डॉ. पांडे ने कहा है 'निश्चय और प्रतिभास का सामंजस्य अविसंवाद है। प्रदर्शन और प्राप्ति की यह अविसंवादकता ही ग्राहक विज्ञान की प्रमाणता है।"[1]

धर्मकीर्ति तथा धर्मोत्तर के मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए आगे डॉ. पांडे लिखते हैं 'व्यवहार में वस्तु को देखना, उसको प्राप्त करने के लिए क्रिया एवं उसकी प्राप्ति ये तीन अलग-अलग बातें हैं। ज्ञान के विषय में यह अभिप्राय नहीं है कि पहले जो वस्तु जानी गई वही कालान्तर में प्रयत्न पूर्वक वस्तुतः पाई जाय, तब ज्ञान को सच्चा मानना चाहिए। यहाँ तात्पर्य अधिक सूक्ष्म है। ज्ञान में वस्तु जैसी भासती है वैसा ही उसका निश्चय होना चाहिए। ये दोनों एक ही ज्ञान के दो व्यापार हैं—वस्तु के स्वरूप को प्रकट करना, और उसके स्वरूप का प्रयोजनीय अर्थ के रूप में निश्चय करना। इन दोनों व्यापारों में सामंजस्य या संवाद होना चाहिए। चमकती रेत के भासित होने पर 'यह जल है' इस प्रकार का निश्चय नहीं होना चाहिए।[2] डॉ. पांडे की इस टिप्पणी से बौद्धों की विज्ञानवादी व्याख्या बिलकुल स्पष्ट हो जाती है।

किन्तु जैसा कि हम संकेत कर चुके हैं ज्ञान की अबाधितता या अविसंवाद की बात करते समय हमारे लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम किसी विशेष प्रकार की तत्त्व-मीमांसा को पहले स्वीकार करें। ज्ञान के प्रमात्व की यह कसौटी तत्त्व-मीमांसा से स्वतन्त्र रहकर भी मानी जा सकती है। उदाहरण के लिए, वस्तुवादी यह जानते हुए भी कि बाह्य विषय सत्य है तथा ज्ञान इनका प्रकाशन मात्र करता है यह भी स्वीकार कर सकते हैं कि एक ज्ञान का जब दूसरे ज्ञान से बाध हो जाए तब यह मानना आवश्यक हो जाता है कि इनमें एक ही ज्ञान सत्य है। इसी प्रकार, विज्ञान-वादी बिना अपनी तत्त्व-मीमांसा में किसी प्रकार का विरोध उत्पन्न किए अबाधितता को सत्य की कसौटी मान सकते हैं तथा वे दार्शनिक भी जो किसी भी प्रकार की तत्त्व-मीमांसा के पचड़े में नहीं पड़ना चाहते तथा उसके प्रति उदासीन रहना चाहते हैं बिना किसी कठिनाई की ज्ञान-मीमांसा की चर्चा कर अबाधितता के रूप में ज्ञान के

1. तत्त्व-चिन्तन वर्ष 3 अंक 2 पृष्ठ 122
2. वही पृष्ठ 130

प्रमात्व को स्वीकार कर सकते हैं। इस दृष्टि से धर्मकीर्ति आदि बौद्धों ने यह बात स्पष्ट करदी कि हम ज्ञान के प्रमात्व की चर्चा ज्ञान के अंतर्गत ही कर सकते हैं तथा इस प्रकार केवल ज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत रहकर ही हम उन सब कठिनाइयों से मुक्त हो सकते हैं जो ज्ञान की वस्तु से तुलना कर यथार्थता के रूप में प्रमा का लक्षण स्वीकार करते हैं तथा जिनकी विस्तार से हम पीछे चर्चा कर चुके हैं।

इतना होते हुए भी बौद्ध मत कठिनाइयों से मुक्त नहीं है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं इस प्रकार की धारणा से एक कल्पित सृष्टि पूर्णरूपेण प्रमा रूप हो जाएगी। स्वप्न जगत में ज्ञान में पूर्णरूपेण अविसंवाद रहता है केवल जागने पर ही उसका विरोध ज्ञात होता है। ऐसी अवस्था में व्यवहार का जो ज्ञान है उसके मिथ्या होने की संभावना सदैव बनी रहती है तथा इस प्रकार अविसंवाद का यह मानदंड सापेक्ष तथा अनन्तिम (tentative) ही रहा, स्थायी तथा निरपेक्ष नहीं। इसके साथ-साथ उपयोगितावाद के मानदंड में जो कठिनाइयाँ प्रस्तुत हुई थीं वे भी इस मत को बाधित करती हैं। हम देख चुके हैं कि कई बार भ्रम भी व्यवहार की दृष्टि से सफल हो जाता है। विपरीत सर्प दंश से जिसे सर्प ने काट लिया है, यह भ्रम हो जाने पर मृत्यु होना संभव है तथा ऐसी स्थिति में बौद्धों के इस मानदंड के अनुसार भी यह सर्प विषयुक्त था इस प्रकार का ज्ञान प्रमा रूप हो जायेगा। वास्तव में धर्मकीर्ति आदि का मत बौद्धों के उपयोगितावाद का ही परिष्कृत रूप है एवं इसलिए वे उन कठिनाइयों से जो उस मत के मूलरूप से संबंधित हैं बच नहीं सकते।

धर्मकीर्ति के इस मत में भी यह प्रश्न आता ही है कि किसी ज्ञान के उत्पन्न होने पर कौनसा फल उसके अनुकूल है तथा कौनसा इसके प्रतिकूल यह निर्णय कैसे हो? उदाहरण के लिए, हमें ज्ञान उत्पन्न होता है कि सामने घड़े में पानी है। हम उसे पीते हैं तथा पीने पर वह खट्टा-सा पेय लगता है। हमें इससे ज्ञान होता है कि घट में पानी नहीं, अन्य कोई द्रव है किन्तु इस निर्णय के पूर्व हमें यह ज्ञान होना आवश्यक है कि पानी का स्वाद आदि किस प्रकार का होता है। अतः प्रश्न है कि इस पूर्व ज्ञान का आधार क्या है? यहाँ हम उसी कठिनाई को पाते हैं जिसकी चर्चा हमने स्वतःप्रमाणता के प्रसंग में की है।

और फिर पूर्णरूपेण विज्ञानवादी मीमांसा में जिसमें किसी भी स्थायी तत्त्व को हम स्थान नहीं देना चाहते, यह कठिनाई और भी जटिल रूप में सामने आती है। जग का ज्ञान पूर्णरूपेण अंतर्निहित है अथवा उसमें प्रकार ही व्यक्ति निरपेक्षता तथा साधारणता है? यदि हम किसी स्थायी रूप तत्त्व को निरपेक्ष सत्ता न मानें तब प्रत्येक व्यक्ति का जग उसके अनुभव भिन्न होगा। बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि अलग-अलग समय उसका जग का प्रत्यक्ष अपनी सुविधा के अनुसार भिन्न भिन्न भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में कोई वस्तु है ही नहीं मात्र विज्ञान का एक प्रवाह

है, एक के बाद दूसरी कड़ी पूर्णरूपेण असंबंधित होते हुए भी चली जा रही है तथा उसकी यह निरंतरता ही उसकी अनिवार्यता है। ऐसी स्थिति में ज्ञान के प्रमात्व अथवा अप्रमात्व की कल्पना नहीं की जा सकती। बौद्ध स्वयं इस बात को भी भली प्रकार जानते हैं तथा इसीलिए उन्होंने ज्ञान तथा उसके विषय में साधारणता तथा निरपेक्षता लाने के लिए मूल भ्रांति की चर्चा की है। यह मूल भ्रांति ही हमारे ज्ञान को साधारणता तथा निरपेक्षता प्रदान करती है क्योंकि यह सभी मनुष्यों में समान है। किन्तु ऐसी स्थिति में यह मत अद्वैत वेदान्त के बिल्कुल समीप आ जाता है जिसकी चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं।

3

प्रमाण्यवाद

प्रमा का क्या स्वरूप है, इस प्रश्न पर हम पिछले अध्याय में विचार कर चुके हैं। भारतीय दर्शन में प्रमा के विषय में एक अन्य बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया गया है, जिस पर हम प्रस्तुत अध्याय में विचार करेंगे। यह प्रश्न भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद के नाम से सुविदित है तथा लगभग सभी भारतीय दार्शनिकों ने इसके बारे में चिंतन किया है। विचारणीय प्रश्न यह है कि किसी भी ज्ञान के प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य का निर्धारण उस ज्ञान से परे किसी अन्य ज्ञान से होता है अथवा नहीं।

इस समस्या पर विचार आरम्भ करने से पूर्व, हमें प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य के अर्थ को भली प्रकार समझ लेना चाहिए। जैसा कि प्रो. मोहन्ती[1] ने स्पष्ट किया है, प्रामाण्य के दो अर्थ लिए जा सकते हैं, प्रमाकरणत्व अथवा प्रमात्व। प्रथम अर्थ में यह उस साधन का गुण है जिससे प्रमा की प्राप्ति होती है। उदाहरणार्थ यदि प्रत्यक्ष के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह प्रमा रूप है तो प्रमा के प्रत्यक्ष रूप उस साधन में प्रामाण्य स्वीकार करना होगा। चूंकि प्रमाण का लक्षण ही 'प्रमा का करण' या प्रमा को देने वाला है अप्रमा को देने वाला नहीं, अतः इस दृष्टि से सभी प्रमाणों में प्रामाण्य का गुण स्वीकार करना होगा। दूसरे अर्थ में, यह प्रमाण का गुण न होकर स्वयं प्रमा का गुण होगा। प्रत्येक प्रमा रूप ज्ञान में प्रामाण्य विद्यमान होगा तथा प्रत्येक अप्रमा रूप ज्ञान में अप्रामाण्य। दूसरे शब्दों में, कोई भी ज्ञान प्रामाण्य के कारण प्रमा तथा अप्रामाण्य के कारण अप्रमा रूप होता है। प्रस्तुत संदर्भ में प्रामाण्य शब्द द्वितीय अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। दूसरे अर्थ में इस समस्या पर प्रमाण प्रकरण में विचार किया गया है। प्रस्तुत प्रसंग में जिस प्रश्न पर विचार करना है वह है कि किसी भी ज्ञान का प्रमात्व स्वतः है अथवा परतः ?

यहाँ पर यह भी ध्यातव्य है कि प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य के विषय में एक ही प्रकार से विचार नहीं किया जा सकता। प्रामाण्यीकरण के विषय में जो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं उनसे भिन्न समस्याएँ अप्रामाण्यीकरण के विषय में उत्पन्न हो सकती हैं। अतः इनमें से किसी एक प्रश्न के समाधान से दूसरे प्रश्न का समाधान भी प्राप्त हो जाए, आवश्यक नहीं है। भारतीय दार्शनिकों ने इन दोनों प्रश्नों पर भिन्न-भिन्न

1. Gangesh's theory of truth Introduction PP 2

रूप से विचार किया है तथा इन दोनों के विषय में भिन्न-भिन्न सिद्धांत भी कई दर्शनों में स्वीकार किये गए हैं। अतः इन दोनों समस्याओं पर अलग-अलग रूप से ही विचार करना उपयुक्त होगा।

प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य पर पुनः ज्ञप्ति तथा उत्पत्ति दो दृष्टि से विचार किया गया है। ज्ञप्ति का अर्थ है ज्ञान की दृष्टि से तथा उत्पत्ति का अर्थ है उत्पत्ति की दृष्टि से। ज्ञप्ति तथा उत्पत्ति का भेद सभी दार्शनिकों ने भली प्रकार नहीं किया है तथा इन दोनों दृष्टियों को लेकर भारतीय दर्शन में बड़ा घपला भी हुआ है, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे।

जैसा पूर्वोल्लेख किया गया है, प्रामाण्य के बारे में पहला मुख्य प्रश्न है कि ज्ञान का प्रामाण्य उससे बाह्य अन्य ज्ञान से होता है अथवा नहीं ? जो दार्शनिक यह स्वीकार करते हैं कि ज्ञान का प्रामाण्यीकरण किसी अन्य ज्ञान से नहीं हो सकता, स्वतः प्रामाण्यवादी कहलाते हैं। स्वतः प्रामाण्यवाद के अनुसार प्रत्येक ज्ञान में प्रामाण्य स्वतः होता है; जिसका अर्थ है[1] कि ज्ञान के कारण तथा उसके प्रामाण्य के कारण भिन्न-भिन्न न होकर एक ही हैं अर्थात् जिन कारणों से ज्ञान ज्ञात होता है उन्हीं कारणों से उसके प्रामाण्य का भी ज्ञान हो जाता है। अतः इस सिद्धांत के अनुसार ज्ञान के ज्ञान के साथ ही उसके प्रामाण्य का भी स्वतः ही ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञप्ति की दृष्टि से स्वतः प्रामाण्यवाद हुआ।[2] इसी प्रकार उत्पत्ति की दृष्टि से स्वतः प्रामाण्यवाद का अर्थ है कि जिन कारणों से ज्ञान उत्पन्न होता है, उन्हीं कारणों से उसमें प्रामाण्य भी उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से ज्ञान के तथा उसके प्रामाण्य के एक ही कारण होने से ज्ञान स्वतः प्रमा रूप ही उत्पन्न होता है।

इसके विपरीत परतः प्रामाण्यवाद के अनुसार जब हमें कोई ज्ञान होता है तब उसके प्रामाण्य के बारे में कोई निश्चय नहीं होता है, बाद में अन्य ज्ञान के द्वारा उसके प्रामाण्य का ज्ञान होता है।[3] इसी प्रकार उत्पत्ति की दृष्टि से उनकी मान्यता है कि ज्ञान तथा उसके प्रामाण्य की उत्पत्ति भिन्न-भिन्न कारणों से होती है। इसी प्रकार स्वतः अप्रामाण्यवाद तथा परतः अप्रामाण्यवाद का अर्थ भी सरलता से समझा जा सकता है। ज्ञप्ति की दृष्टि से स्वतः अप्रामाण्यवाद के अनुसार किसी भी ज्ञान के अप्रामाण्य का ज्ञान उन्हीं कारणों से होता है जिससे उस ज्ञान का ज्ञान होता है तथा उत्पत्ति की दृष्टि से ज्ञान तथा अप्रामाण्य के कारण एक ही होंगे। परतः अप्रामाण्य के अनुसार ज्ञान-कारण तथा अप्रामाण्य कारण एक ही न होकर भिन्न-भिन्न

1. गंगेश : तत्त्व चिन्तामणि, प्रामाण्यवाद
2. ज्ञान ग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वं स्वतस्त्वम्। केशव मिश्र : तर्क भाषा : प्रामाण्यवाद।
3. ज्ञान ग्राहकातिरिक्तापेक्षत्वम् परतस्त्वम्। विश्वेश्वर : दर्शन मीमांसा 5

हानि। स्वतः अप्रामाण्य के अनुसार प्रत्येक ज्ञान अप्रमा रूप ही ज्ञात या उत्पन्न होता है जबकि परतः अप्रामाण्य के अनुसार ज्ञान का अप्रामाण्य अन्य ज्ञान से सिद्ध होता है तथा उसके कारण ज्ञान के अपने कारण न होकर अन्य कुछ कारण होते हैं।

स्वत. तथा परत. एवं प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य के उपरोक्त भेद को ग्रहण कर लेने पर यह सहज ही समझ में आ सकता है कि इस प्रश्न के चार विभिन्न उत्तर दिए जा सकते हैं। सर्वदर्शन-संग्रह में इस दृष्टि से भारतीय दार्शनिकों को चार भागों में विभक्त भी किया गया है। सांख्य प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों को स्वतः मानता है जबकि न्याय दोनों को परत.। बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार प्रामाण्य परतः तथा अप्रामाण्य स्वत. है तथा मीमांसकों के अनुसार प्रामाण्य स्वत. तथा अप्रामाण्य परतः है। किन्तु शांत रक्षित आदि कुछ बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार सभी ज्ञान के प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य के विषय में निरपेक्ष रूप से एक ही प्रकार की धारणा बना लेना उचित नहीं है। उनका मत है कि कुछ अवस्थाओं में प्रामाण्य स्वतः तथा अन्य कुछ अवस्थाओं में वह परतः हो सकता है तथा इसी प्रकार अप्रामाण्य भी अवस्था सापेक्ष हो सकता है। साथ ही माध्यमिक बौद्धों ने अन्य सभी दार्शनिक प्रश्नों के उत्तर की भांति इस प्रश्न को भी किसी भी हल को कठिनाइयों से भरा हुआ पाया है। इस प्रकार, इस संबंध में हम चार के स्थान पर छः मतों की चर्चा करेंगे तथा इन सभी सिद्धांतों के दार्शनिक महत्त्व का मूल्यांकन करने का प्रयास करेंगे।

सांख्य दर्शन के स्वतः प्रामाण्य तथा स्वतः अप्रामाण्य का आधार मुख्य रूपेण उनकी तत्त्व-मीमांसा है। सांख्य के दो मुख्य सिद्धांतों से प्रामाण्यवाद के विषय में उनका मत सहज ही फलित हो जाता है। ये दो सिद्धांत सत्कार्यवाद तथा व्यावहारिक ज्ञान का प्रकाशक जो बुद्धि है उसका त्रिगुणात्मक होना है। सत्कार्यवाद के सिद्धांत के अनुसार सांख्य दर्शन किसी भी नई उत्पत्ति को स्वीकार नहीं करता। जो कुछ भी इस व्यक्त जगत में उत्पन्न होता है, अव्यक्त रूप से अपने कारण में पहले से ही विद्यमान होता है। अतः ज्ञान का प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य भी कोई नई उत्पत्ति नहीं हो सकती वरन् उनके कारण में वे पहले से ही विद्यमान होते हैं। प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य ज्ञान के ही गुण हैं तथा किसी भी वस्तु के तथा उसके गुणों के कारण भिन्न-भिन्न नहीं हो सकते अतः ज्ञान का प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य स्वतः है।

दूसरे, सांख्य ज्ञान को बुद्धि की वृत्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। बुद्धि जिस आकार को ग्रहण कर लेती है वही ज्ञान है। बुद्धि प्रकृति का रूपांतर है तथा इसीलिए उसमें तीनों गुण, सत्त्व, रजस् तथा तमस सदैव न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान होते हैं। बुद्धि की कोई भी अवस्था कभी भी शुद्ध सत्त्व अथवा शुद्ध तमस या शुद्ध रजस् की अवस्था नहीं होती। इन तीनों गुणों में से सत्त्व ज्ञान अथवा प्रामाण्य तथा तमस तथा रजस् अप्रामाण्य का जनक होता है। इस प्रकार किसी भी बुद्धि की वृत्ति

में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों के तत्त्व सदैव विद्यमान होने से सांख्य के अनुसार प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों ही स्वतः हैं। सत्व के आधिक्य से ज्ञान को प्रामाण्य होता है तथा उसकी अपेक्षाकृत न्यूनता से उसे अप्रामाण्य होता है।

सांख्य ज्ञान के स्वप्रकाश सिद्धान्त को स्वीकार करता है जिसका अर्थ है कि ज्ञान अपने आप को स्वयं ही प्रकाशित भी करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान की उत्पत्ति तथा उसका प्रकाश साथ ही साथ होता है। ज्ञान उत्पन्न होने के साथ ही साथ अपने आपको प्रकाशित भी करता है। हम देख चुके हैं कि सत्व गुण ज्ञान को उत्पन्न करता है तथा तमस एवं रजस् गुण उसकी उत्पत्ति में बाधक होते हैं। किन्तु साथ ही साथ सत्व ज्ञान के प्रामाण्य को भी प्रकाशित करता है तथा तमस एवं रजस् उसके प्रामाण्य को धूमिल करते हैं। इस बात को ध्यान में रखने से यह सरलता से स्पष्ट हो जाता है कि सांख्य के अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति दोनों ही दृष्टि से स्वतः है। तथा इसी प्रकार ज्ञान का अप्रामाण्य भी दोनों ही दृष्टियों से स्वतः है।[1]

सांख्य दर्शन पर योग का काफी प्रभाव है। इससे प्रभावित होकर उसकी मान्यता है कि हमारा चित्त जितना ही अधिक निर्मल तथा शांत होता है सत्व के प्रभाव से उसका ज्ञान उतना ही स्पष्ट तथा प्रामाणिक होता है। उसमें तमस तथा रजस् की जितनी मात्रा अधिक होती जाती है ज्ञान में अस्पष्टता तथा धूमिलता होने के कारण वह उतना ही अप्रामाण्य हो जाता है। इस प्रकार, प्रत्येक ज्ञान में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों एक साथ स्वतः विद्यमान होते हैं तथा व्यावहारिक स्तर का वृत्ति रूप कोई भी ज्ञान पूर्ण रूपेण प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य की कोटि में नहीं आता। विभिन्न ज्ञानों में प्रामाण्य की दृष्टि से श्रेणी भेद होता है।

भारतीय परम्परा में पले व्यक्तियों को यह मत बहुत आकर्षित करेगा। योग परम्परा वाले लोग प्रायः यह मानते हैं कि मानव योग के द्वारा अपनी बुद्धि को निर्मल कर अपनी ज्ञान शक्ति को इतना विकसित कर लेता है कि उसका प्रत्येक ज्ञान साथ ही होता है तथा अपने ज्ञान के प्रामाण्य का भी उसे स्पष्ट ज्ञान होता है। योगियों की अपनी इस योग साधना के द्वारा सर्वज्ञता तक प्राप्त कर लेने की चर्चा हम सुनते हैं तथा इस प्रकार की धारणा के सांख्य मत अनुकूल ही है।

सांख्य दर्शन के इस मत को ठीक प्रकार से न समझने के कारण, इसके विरुद्ध कुछ ऐसी आपत्तियाँ उठाई गई हैं जो वास्तव में उचित नहीं ठहराई जा सकती। कमलशील[1] पूछते हैं कि प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों एक ही ज्ञान में एक साथ विद्यमान होते हैं अथवा अलग-अलग ज्ञान में ? (कुछ ज्ञान स्वतः प्रामाण्य होते हैं तथा कुछ स्वतः अप्रामाण्य) प्रथम अवस्था में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य जैसे दो विरोधी तथा व्याघातक गुण

1. शांत रक्षित के तत्त्वसंग्रह की कारिका 24॥ की टीका

एक ही ज्ञान में एक साथ स्थित होगे जो असंभव है। दूसरी अवस्था में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का निर्धारण करने के लिए किसी मानदंड के अभाव में यह निश्चित नहीं हो सकेगा कि कौनसा ज्ञान प्रमा रूप है तथा कौनसा अप्रमा रूप ? तथा इससे प्रमा तथा अप्रमा का भेद ही समाप्त हो जायेगा। पुन: यह भी कहा जा सकता है कि सांख्य में ज्ञान में संशय के लिए कोई स्थान नही होगा। ज्ञान स्वतः प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य होने से प्रमा रूप ज्ञान स्वत: ही प्रमा रूप प्रकाशित होगा तथा स्वत: अप्रामाण्य होने से अप्रमा ज्ञान अप्रमा रूप ही प्रकाशित होगा तथा दोनो अवस्थाओं में निश्चयात्मकता की स्थिति होगी संशय नहीं रहेगा।

किन्तु यदि हम सांख्य द्वारा प्रस्तुत ज्ञान के विश्लेषण पर ध्यान दें तो यह समझ पाना आसान होगा कि उपरोक्त आलोचना साख्य मत पर लागू नही होती। प्रथम तो आलोचना करते समय कमलशील आदि आलोचक ज्ञान के जिस सरल रूप को स्वीकार करते हैं वह सांख्य को मान्य नही है। आलोचना करते समय इनकी मान्यता है कि ज्ञान या तो प्रमा रूप ही होता है या अप्रमा रूप ही, किन्तु सांख्य के अनुसार हमारा सामान्य व्यावहारिक ज्ञान न तो पूर्ण प्रामाण्य लिए हुए होता है और न पूर्ण अप्रामाण्य युक्त ही; वह पूर्ण प्रामाण्य तथा पूर्ण अप्रामाण्य के बीच किसी श्रेणी का होता है। पूर्ण प्रामाण्य ज्ञान तो केवल सर्वज्ञ को ही संभव है, जिसका ज्ञान पूर्ण रूपेण स्पष्ट तथा निश्चित होता है। उनके अनुसार पूर्ण अप्रामाण्य ज्ञान भी सम्भव नही है। ज्ञान के पूर्ण अप्रामाण्य का अर्थ होगा सत्व का सर्वथा अभाव। किन्तु प्रथम तो सांख्य में सत्व का पूर्ण अभाव किसी भी वृत्ति ज्ञान में असंभव है। सत्व ही ज्ञान का प्रकाशक है तथा इसके पूर्ण अभाव मे ज्ञान का भी पूर्ण अभाव होगा। साथ ही, साख्य मे सशय के लिए उचित स्थान सदैव सम्भव है। भारतीय दर्शन मे संशय अप्रमा का ही एक प्रकार है। जब रजस् तथा तमस के प्रभाव के कारण कोई भी ज्ञान अपने स्पष्ट रूप से प्रकाशित नहीं होता तो वहाँ संशय उत्पन्न होता है। यह कहना भी ठीक नही है कि किसी भी ज्ञान के विषय में उत्पन्न संशय के समाधान के लिए सांख्य के पास कोई उत्तर नही है। हम देख चुके हैं कि अप्रमा रूप सशय रजस् अथवा तमस के आधिक्य से उत्पन्न होता है तथा सत्व गुण के आधिक्य से उस संशय का निराकरण किया जा सकता है। यह सत्व गुण उसी ज्ञान में पहले से ही अव्यक्त रूप में विद्यमान होता है जो व्यक्त होकर उस ज्ञान को अधिक स्पष्ट तथा प्रमा रूप में परिणत कर सशय को दूर करता है। इसी प्रकार, सांख्य दर्शन के संदर्भ मे भ्रम की भी व्याख्या आसानी से की जा सकती है। संशय की भाँति भ्रम भी तमस के कारण उत्पन्न होता है जो सत्व के आधिक्य से दूर हो जाता है। सांख्य दर्शन में पुरुष को जो भ्रम होता है तथा जिसके कारण वह अपने आपको प्रकृति रूप समझता है उसका कारण उसकी बुद्धि का अनिर्मल होना ही है। यहाँ पर यह पूछा जा

सकता है कि यदि अप्रामाण्य स्वत ज्ञात: होता है तब भ्रम कैसे सम्भव होगा ? इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि सांख्य के अनुसार ज्ञान की दृष्टि से स्वत अप्रामाण्य-वाद का अर्थ यही है कि जिस बुद्धि से ज्ञान प्रकाशित होता है उसी बुद्धि से उसका अप्रामाण्य भी प्रकाशित या ज्ञात होता है। उसके ज्ञान का कारण (सत्व गुण) जो अव्यक्त रूप से था—व्यक्त होने पर उसे अप्रमा रूप प्रकाशित कर देता है।

ज्ञान के विषय में निरपेक्ष मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता। कोई भी ज्ञान एक संदर्भ में ही सत्य तथा असत्य कहा जा सकता है चूँकि ऐसी व्यवस्था की कल्पना करना कठिन है जिसमें सभी सदर्भों का समावेश हो अतः प्रत्येक ज्ञान वास्तव में आंशिक रूप से प्रमा तथा आंशिक रूप से अप्रमा रूप होता है। इस दृष्टि से सांख्य मत ठीक ही है।

वास्तव में सांख्य की कठिनाई इससे भिन्न है। सांख्य प्रामाण्य की उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति को सत्व की प्रधानता के रूप मे व्याख्यायित करते हैं। प्रश्न यह है कि हम किस प्रकार सत्य को प्रधान कर सकते हैं ताकि हमारा ज्ञान प्रामाण्य रूप हो। सांख्य के पास उत्तर है; योग साधन के द्वारा। किन्तु वस्तुत. इससे परिस्थिति विशेष मे प्रामाण्य की समस्या नहीं सुलझती है। यह तो हमें समस्या को सुलझाने के लिए योग्य बनाने का प्रयास है। तथा यह योग्यता भी व्यावहारिकता से विशेष सम्बन्ध नहीं रखती। प्रथम, हर एक व्यक्ति योग साधन नहीं कर सकता। यदि कोई व्यक्ति इसका साधन करे भी तो वह उसे कितने समय में इतनी सफलता प्राप्त कर सकेगा कि उसका ज्ञान सदैव प्रमा रूप ही हो कोई निश्चित नहीं है। और फिर योग साधन का मुख्य प्रयोजन जगत का प्रमा रूप ज्ञान प्राप्त करना है भी नहीं। सामान्य रूप से सांख्य की मान्यता है कि प्राय सभी मनुष्य तीनों गुणों से युक्त ज्ञान-अज्ञान के झमेले मे थपेड़े खाते रहते है। ऐसी अवस्था मे सांख्य के अनुसार असहाय मानव के लिए ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करना भी सम्भव नहीं है। हमारा ज्ञान सत्य हो, हम अपने भ्रम तथा संशय को दूर कर सकें इसके लिए हमारे पास कोई उपाय नहीं है। हमारी अवस्था केवल उस व्यक्ति के सदृश होगी जो सागर के किनारे बैठा है। समुद्र की लहरें उसे सीपी दे जाती हैं उनमे से कुछ मूल्यवान होती हैं, कुछ नहीं तथा वह इन स्थिति को सुधारने अथवा बिगाड़ने मे सर्वदा असहाय होता है।

किन्तु सांख्य द्वारा प्रस्तुत स्थिति, हमारे व्यावहारिक जीवन तथा सामान्य अनुभव द्वारा पुष्ट नहीं होती। सामान्य जीवन में मानव ज्ञान प्राप्ति के लिए इतना असहाय नहीं है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि मनुष्य सत्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए सामान्य रूप से योग का सहारा नहीं लेता और न ही वह अपने भीतर सत्व की प्रधानता की बात सोचता है। जैसा कि न्याय, बौद्ध आदि दर्शनों मे चर्चा की है, अन्य कई प्रकारों से

वह अपने ज्ञान के प्रामाण्यीकरण के उपाय करता है। यहाँ तक कि मीमांसा आदि द्वारा प्रस्तुत स्वतः प्रामाण्यवादी व्याख्या भी सांख्य मत की विशेष पुष्टि नहीं करती।

अस्तु, हम देखते हैं कि सांख्य द्वारा प्रतिपादित मत की कोई व्यावहारिक उपयोगिता नहीं है। मुख्य समस्या के समाधान के लिए इससे हमें कोई दिशा-प्राप्त नही होती। हमारे इस प्रश्न का कि अपने किसी भी ज्ञान का प्रामाण्यीकरण हम किस प्रकार कर सकते हैं तथा जीवन में सफल होने के लिए प्रमा तथा अप्रमा के भेद की स्थापना किस प्रकार सम्भव है, हमें सांख्य दर्शन के अन्तर्गत कोई उत्तर नही मिलता। इतना ही नही, सांख्य मत के अन्तर्गत भी हमारे पास यह जानने का कोई निश्चित मानदंड नही है कि हम कब यह समझें कि अभी हमारे भीतर सत्व गुण की गुण की विशेष प्रधानता है अत इस समय का ज्ञान प्रमा रूप ही होगा। भ्रम तथा प्रमा की उत्पत्ति के समय मानव की मनोवैज्ञानिक स्थिति लगभग एक ही होती है, दोनों ही ज्ञान उस समय प्रमा रूप ही प्रतीत होते है। तब किस प्रकार हम यह जान सकते हैं कि अमुक अवस्था मे ज्ञान प्रमा रूप है तथा अमुक अवस्था मे अप्रमा रूप।

प्रामाण्य के विषय मे उत्पत्ति का प्रश्न इतना मुख्य नही है जितना ज्ञप्ति का, तथा ज्ञप्ति की दृष्टि से सांख्य इस समस्या पर कोई प्रकाश नही डालता। सांख्य के अतिरिक्त मीमांसक तथा अद्वैत वेदान्ती भी स्वत प्रामाण्यवादी हैं तथा उन्होने ज्ञप्ति की दृष्टि से इस विषय पर अधिक सम्यक् प्रकाश डाला है।

इसके पहले कि हम ज्ञप्ति की दृष्टि से प्रामाण्य पर विचार करें, हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रामाण्य शब्द को तीन विभिन्न अर्थों में समझा जा सकता है। प्रथम अर्थ मे, जिसे रामानुजाचार्य ने याथार्थ्य[1] तथा कुमारिल ने बोधात्मकत्व कहा है, प्रत्येक ज्ञान प्रामाण्य रूप है। ज्ञान का सदैव कोई न कोई विषय होता है, जिसे वह ज्ञान प्रकाशित करता है तथा इस अर्थ में उस विषय का प्रकाशन ही उसका प्रामाण्य है। इस दृष्टि से कोई भी ज्ञान प्रामाण्य रूप है। इसका अर्थ है कि ज्ञान का जो भी विषय है, वह ज्ञान उसी को प्रकाशित कर रहा है।

उदाहरण के लि[illegible] इस समय मुझे घट का ज्ञान है तो यह ज्ञान इस अर्थ मे प्रमा रूप है कि [illegible] र में घट का ही ज्ञान हो रहा है या इस ज्ञान का विषय घट ही है अन्य नहीं।

यहाँ पर विषय का अर्थ हम मनोवैज्ञानिक रूप में ले रहे है, तात्विक अर्थ मे नहीं। जब हम सांप की जगह रस्सी देख रहे होते हैं, तब यह प्रश्न उठ सकता है कि यहाँ पर इस ज्ञान का विषय सर्प है या रस्सी? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तो इस ज्ञान का विषय निश्चित ही रस्सी है। यद्यपि

1. तत्व रहस्य, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज पृष्ठ 3।

तात्त्विक दृष्टि से इसके विषय में यह विवाद हो सकता है कि इस ज्ञान का विषय वास्तव में सर्प है या स्मृत रस्सी। इस प्रथम अर्थ में प्रामाण्य वास्तव में पुनरुक्ति मात्र है जिसका आशय है कि जब हमें सर्प का ज्ञान हो रहा है तब सर्प का ही ज्ञान हो रहा है। इस दृष्टि से किसी भी ज्ञान को स्वतः प्रामाण्य मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। किन्तु पुनरुक्ति मात्र होने से इस सिद्धांत का कुछ भी महत्त्व नहीं रह जाता। इसीलिए किसी भी दर्शन ने इस अर्थ को ध्यान में रखकर इस समस्या पर विचार नहीं किया है।

दूसरे अर्थ में प्रामाण्य का अर्थ, जिसे रामानुजाचार्य ने प्रामाण्य के नाम से ही सम्बोधित किया है, ज्ञान की अपने विषय को प्रकाशित करने में स्वतन्त्रता से है। प्रथम अर्थ में प्रामाण्य न केवल प्रत्येक ज्ञान को प्राप्त है, स्मृति भी प्रामाण्य रूप ही हो जाती है। स्मृति का भी कोई न कोई विषय सदैव ही रहता है तथा वह स्मृति ज्ञान अपने उस विषय को प्रकाशित करता है। किन्तु स्मृति अपने उस ज्ञान को स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित करने में समर्थ नहीं है। वह सदैव किसी पूर्व-ज्ञान पर जो अनुभूति रूप होता है, निर्भर होता है। इसीलिए इस दूसरे अर्थ में स्मृति के अतिरिक्त सभी ज्ञान को प्रामाण्य है।

तीसरे अर्थ में, जिसे रामानुजाचार्य ने संयक्त्व कहा है प्रामाण्य केवल अबाधित ज्ञान को प्राप्त है। इस अर्थ में प्रामाण्य का मानदण्ड अबाधकत्व है। जो ज्ञान बाधित हो जावे वह अप्रमा तथा जो बाधित न हो वह प्रमा रूप है।

प्रभाकर के अनुसार सभी ज्ञान प्रमा रूप हैं उनके दर्शन में इस दृष्टि से अप्रमा के लिए कोई स्थान नहीं है। इसीलिए उनका ख्याति का सिद्धान्त अख्यातिवाद कहलाता है। जैसा कि हम प्रमा प्रकरण में देख चुके हैं, प्रभाकर प्रमा को अनुभूति रूप में परिभाषित करते हैं तथा स्मृति को अनुभूति रूप न होने के कारण प्रमा के अन्तर्गत नहीं मानते। इस प्रकार, स्मृति के अतिरिक्त सभी ज्ञान प्रमा है। प्रभाकर का कहना है कि चूँकि प्रत्येक ज्ञान अपने ही विषय को प्रकाशित करता है तथा किसी भी ज्ञान के लिए यह असम्भव है कि वह अपने विषय से भिन्न किसी अन्य विषय को प्रकाशित करे, वह स्वतः प्रामाण्य है। जब हमें गाय का ज्ञान होता है तब उस ज्ञान में गाय ही प्रकाशित होती है, गाय से भिन्न कोई दूसरा विषय नहीं।[1]

किन्तु प्रभाकर का यह मत समस्या का उचित समाधान प्रस्तुत नहीं करता। प्रमा तथा अप्रमा के भेद को इस प्रकार समाप्त कर देने से व्यावहारिक अनुभव से स्पष्ट विरोध उत्पन्न होता है। प्रमा के अप्रमा से भेद का हमारे व्यावहारिक जीवन

1. "तस्मात् सर्वस्मिन् [illegible] अर्थे प्रकाशने न तत्र विपरीतः [illegible]" रामानुजाचार्य : तन्त्र रहस्य, पृष्ठ 2।

में बहुत ही महत्त्व है। सत्य तथा असत्य ज्ञान के हमारे सामान्य अनुभव को इस प्रकार आसानी से नहीं झुठलाया जा सकता। प्रभाकर स्वयं व्यावहारिक दृष्टि से प्रमा तथा अप्रमा के भेद को स्वीकार करते हैं तथा व्यावहारिक जीवन में इस भेद का आधार वे व्यवहार में सफलता तथा असफलता को मानते हैं।[1] किसी ज्ञान के आधार पर व्यवहार करने से यदि सफलता प्राप्त हो तो वह ज्ञान प्रमा रूप तथा यदि असफलता मिले तो वह ज्ञान अप्रमा रूप माना जाता है। बर्तन में रखे हुए नमक को जब चीनी समझ कर हम क्रिया के लिए प्रवृत्त होते हैं तब हमें व्यवहार मे असफलता मिलती है क्योंकि चाय मे उसे डालने पर चाय मीठी नहीं होती अत: वह चीनी का ज्ञान अप्रमा रूप सिद्ध होता है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि प्रभाकर प्रामाण्य के प्रश्न को दो दृष्टियों से देखते हैं। प्रथम, ज्ञान की दृष्टि से जिससे स्मृति के अतिरिक्त सभी ज्ञान प्रमा रूप हैं अतः *प्रत्येक ज्ञान स्वत: प्रामाण्य है*। दूसरे, *व्यवहार की दृष्टि से अविसंवाद या सफलता* प्रमा का लक्षण है। हमने ऊपर प्रामाण्य के जिन तीन विभिन्न अर्थों की चर्चा की है, उन्हें ध्यान मे रक्खें तो हम देखेंगे कि प्रभाकर ज्ञान की दृष्टि से भी प्रामाण्य को प्रथम अर्थ में न समझ कर द्वितीय अर्थ मे लेते हैं। जैसा कि हम कह चुके हैं, प्रथम अर्थ मे अन्य सभी ज्ञान के साथ-साथ स्मृति को भी स्वत: प्रामाण्य होगा जिसे वे स्वीकार नहीं करते।

मोहन्ती[2] ने प्राभाकरों के स्वतः प्रामाण्यवाद की आलोचना करते हुए दर्शाया है कि दोनों ही दृष्टियों से उनका स्वतः प्रामाण्यवाद सिद्ध नहीं होता। पहले हम द्वितीय अर्थ में (प्रामाण्य) स्वतः प्रामाण्य पर विचार करें। मोहन्ती का कहना है कि इस अर्थ में अन्य सभी ज्ञान को प्रामाण्य है तथा स्मृति को अप्रामाण्य, किन्तु कोई भी ज्ञान अनुभव रूप है या स्मृति रूप, यह उस ज्ञान से परे किसी अन्य मानदण्ड से निर्धारित होता है। इस बात का निर्णय करने के लिए हमें पूर्व अनुभव पर जाना होता है तथा यह देखना होता है कि प्रस्तुत ज्ञान पहले हमे हो चुका है अथवा नहीं। यदि यह ज्ञान किसी पूर्व ज्ञान की ही पुनरुक्ति मात्र है तब वह स्मृति रूप माना जाकर अप्रमा की कोटि मे आयेगा तथा यदि उसका ज्ञान पहले कभी नहीं हुआ है, वह नवीन ही है तब उसे प्रमा रूप स्वीकार करना होगा। स्पष्ट ही प्रमा तथा अप्रमा का यह निर्धारण उस ज्ञान द्वारा स्थापित न होकर हमारे पूर्व अनुभव के द्वारा सिद्ध होता है अत इस दृष्टि से इस ज्ञान को परतः प्रामाण्य है स्वतः प्रामाण्य नहीं। अस्तु, मोहन्ती का कहना है कि यदि अनधिगतता को प्रामाण्य के लक्षण के रूप मे स्वीकार कर लिया जाय तब हम यह नहीं कह सकते कि जिन कारणों से ज्ञान का

1. यत्र व्यवहार विसंवादः तत्र पूर्वज्ञानस्य भ्रान्तत्वम् रामानुजाचार्य : तंत्र रहस्य पृष्ठ 3।
2. Gangesh's theory of truth : Introduction.

ज्ञान होता है उन्हीं कारणों से उसके प्रामाण्य का भी ज्ञान होता है। ज्ञान का ज्ञान तो हमें स्वतः ही होता है किन्तु उसके प्रामाण्य का ज्ञान हमें उसी ज्ञान से स्वतः न होकर हमारे अन्य पूर्व अनुभव के आधार पर होता है।

तथापि मोहन्ती की यह आलोचना ठीक प्रतीत नहीं होती। कोई ज्ञान अनुभूति रूप है अथवा स्मृति रूप यह उस ज्ञान से स्वतः ही प्रकाशित होता है। इसके लिए हमें अलग से पूर्वज्ञान के बारे में विचार नहीं करना पड़ता। मोहन्ती सम्भवतः यह समझते हैं कि पहले तो हमें कोई ज्ञान हो जाता है। इसके पश्चात् हम यह विचार करते हैं कि यह ज्ञान नवीन ही है या पहले के किसी ज्ञान की पुनरुक्ति है तथा इसके लिए हम अपने प्राचीन अनुभव को स्मृति पटल पर लाकर प्रस्तुत ज्ञान के अनुभूति रूप या स्मृति रूप होने का निर्धारण करते हैं। यह विश्लेषण वास्तविकता से बहुत दूर है। वास्तव में कोई भी ज्ञान हमें अनुभूति रूप या स्मृति रूप स्वतः ही पहले ही क्षण प्रकाशित होता है। उसकी अनुभूति रूपता अथवा स्मृति रूपता अपरोक्ष रूप से स्वतः ही प्रकाशित होती है, परोक्ष रूप से परतः नहीं। यह ठीक है कि जब कोई स्मृति ज्ञान हमें होता है तो उसके साथ ही साथ हमें यह भी ज्ञान होता है कि इस ज्ञान का हमें पूर्व अनुभव हो चुका है तथा यही स्मरण इस ज्ञान को स्मृति रूप बनाता भी है। किन्तु यहाँ पर भी उस ज्ञान का स्मृति रूप होना अपरोक्ष रूप से ही प्रकट होता है। यहाँ पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि महत्त्व की बात किसी ज्ञान के परोक्ष अथवा अपरोक्षता की नहीं है। मुख्य बात यह है कि स्मृति का स्मृति रूप होना ही उसका उस ज्ञान से अन्य किसी पूर्व अनुभव पर निर्भर होना है। स्मृति स्वतन्त्र ज्ञान नहीं है। यह पूर्वज्ञान पर आधारित है। चूँकि स्मृति अप्रमा है तथा मीमांसक प्रामाण्य को स्वतः किन्तु अप्रामाण्य को परतः मानते हैं। अतः यदि यह सिद्ध होता है कि स्मृति का स्मृति रूप निर्धारण उसी ज्ञान से न होकर किसी अन्य ज्ञान से होता है तो इससे प्रामाकरों के मत की पुष्टि ही होती है, उसमें विरोध उत्पन्न नहीं होता। विचारणीय यह है कि जिस प्रकार स्मृति पूर्व ज्ञान पर निर्भर है उसी प्रकार अनुभूति का अनुभूति रूप होना भी किसी पूर्व ज्ञान पर निर्भर है अथवा नहीं। मोहन्ती सोचते हैं कि कोई ज्ञान अनुभूति रूप है या नहीं यह उसका स्मृति न होने को जानकर ही हो सकता है। अर्थात् अनुभूति का अनुभूति रूप ज्ञान निषेधात्मक है। चूँकि उसके स्मृति रूप न होने का निर्धारण पूर्व ज्ञान के प्रसंग में ही किया जा सकता है अतः ज्ञान की यह अनधिगतता भी स्मृति की भाँति ही परतः है। किन्तु यहीं पर मोहन्ती ने भूल की है। किसी भी ज्ञान का अनुभूति रूप में प्रकाशन निषेधात्मक न होकर स्वीकारात्मक है। अनुभूति रूप ज्ञान का इस रूप में प्रकाशन इस प्रकार नहीं होता कि चूँकि यह स्मृति नहीं है अतः यह अनुभूति है वरन् स्वतन्त्र रूप से अनुभूति रूप ही होता है। कोई ज्ञान यदि हमें पहले हुआ भी है, किन्तु उसका हम

समय स्मरण नहीं है तब वह ज्ञान स्मृति रूप न माना जाकर अनुभूति रूप ही माना जायेगा। अतः प्राभाकर यह ठीक ही कहते हैं कि कोई ज्ञान अनुभूति रूप है, इसे स्वतः प्रामाण्य ही है परन्. नहीं। प्राभाकरो द्वारा प्रस्तुत ख्याति की व्याख्या इस बात को स्पष्ट रूप से सिद्ध कर देती है कि कोई ज्ञान स्मृति रूप होते हुए भी जब स्मृति रूप प्रकाशित नहीं होता तब वह अनुभूति रूप ही ज्ञात होता है तथा उस समय वह प्रमा रूप से ही प्रकाशित होता है। जब आगे चलकर उस ज्ञान का व्यवहार मे बाध होता है उस समय वह परतः अप्रामाण्य ज्ञात होता है। प्राभाकरों का ख्याति का सिद्धांत अख्यातिवाद के नाम से जाना जाता है। उनका कहना है कि जब रस्सी के स्थान पर हमे सर्प की प्रतीति 'यह सर्प है' इस रूप में होती है तब यहाँ पर 'यह' प्रत्यक्ष का विषय है तथा 'सर्प' स्मृति का किन्तु भ्रम के इस स्थल मे प्रत्यक्ष तथा स्मृति के इस भेद का ग्रहण नहीं होता इसीलिए भ्रम होता है। तथा इसका कारण भेदाग्रह या भेद का अग्रहण होने के कारण यह अख्यातिवाद कहलाता है। कहने का तात्पर्य है कि प्रामाण्य के इस अर्थ में ज्ञान को प्रामाण्य स्वतः तथा अप्रामाण्य परतः मानने में कोई असंगति नहीं लगती।

प्राभाकरों की कठिनाई यहाँ न होकर और कहीं है। हम देख चुके हैं कि प्रामाण्य की समस्या हमारे व्यावहारिक जगत् में उत्पन्न होती है। किसी ज्ञान को हम प्रमा रूप मानकर व्यवहार करते हैं तब हमे सफलता के स्थान पर असफलता प्राप्त होती है तथा उस समय हमे यह ज्ञान होता है कि जिस ज्ञान को हम प्रमा रूप मान रहे थे वह वास्तव में प्रमा रूप न होकर अप्रमा रूप है। रामानुज के द्वितीय अर्थ में प्रामाण्य को परिभाषित करने से इस समस्या पर कोई प्रकाश नही डाला जा सकता, इसलिए यह मत मूल्यहीन सिद्ध होता है। प्राभाकरों ने स्वयं अपनी इस कमी को अनुभव किया है अतः व्यवहार की दृष्टि से प्रामाण्य को संयक्त्व के रूप में परिभाषित कर उन्होंने इस पर अलग से विचार किया है। किन्तु इस दृष्टि से सभी ज्ञान प्रमा रूप नही होते जैसा कि वे मुख्यतया मानते हैं। प्रमा तथा अप्रमा के इस भेद को स्वीकार कर लेने पर स्वभावतः ही प्रश्न उठता है कि फिर किसी भी ज्ञान के प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य का ज्ञान हमे कैसे होता है। तथा जैसा कि हम संकेत कर चुके होते हैं इसके लिए वे अविसंवाद को प्रामाण्य का तथा विसंवाद को अप्रामाण्य का लक्षण मानते हैं। यह मत अद्वैत वेदान्त तथा कुमारिल मीमासा से मिलता-जुलता है अतः इस दृष्टि से ज्ञान को प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य स्वतः है अथवा परतः हम उनके साथ ही विचार करेंगे।

प्रभाकर मीमासा के साथ-साथ कुमारिल मीमासा तथा अद्वैत वेदान्ती भी स्वतः प्रामाण्यवादी हैं। किन्तु ये दोनों प्राभाकरों की भाँति प्रमा तथा अप्रमा के भेद को समाप्त कर यह नहीं कहना चाहते कि प्रत्येक ज्ञान प्रमा रूप ही है। इन दोनों ही

दर्शनों में ज्ञान दो प्रकार का स्वीकार किया गया है जो प्रमा तथा अप्रमा रूप होता है।

अपने स्वतः प्रामाण्यवाद की स्थापना करने के लिए कुमारिल ने वही तरीका अपनाया है जो प्राभाकरों ने अपनाया। प्राभाकरों की भाँति कुमारिल के अनुसार भी बोधात्मकत्व ही प्रामाण्य है।[1] किन्तु इस अर्थ में प्राभाकरों के याथार्थ्य की भाँति प्रमा तथा अप्रमा का भेद समाप्त हो जाता है जो कुमारिल मीमांसकों को स्वीकार्य नहीं है। बोधात्मकत्व का अर्थ है विषय का बोध जो प्रत्येक ज्ञान में होता है चाहे वह प्रमा हो या अप्रमा। बोधात्मकत्व के रूप में प्रमात्व को परिभाषित करके कुमारिल भी एक पुनरुक्ति मात्र का ही कथन कर रहे हैं, जिसका अर्थ है कि ज्ञान अपने ही विषय को प्रकाशित करता है या किसी ज्ञान का जो विषय है उस ज्ञान से उसी विषय का बोध होता है, अन्य का नहीं।

प्रामाण्य की परिभाषा के इस दोष से अवगत होने के कारण ही उम्बेक[2] ने कुमारिल के उपरोक्त पद की भिन्न रूप में व्याख्या की। उनका कहना है कि चूँकि बोधात्मकत्व प्रमा तथा अप्रमा दोनों में विद्यमान होता है, यह प्रमा का लक्षण स्वीकार नहीं किया जा सकता और इसीलिए उन्होंने प्रामाण्य के इस लक्षण में अर्थ-अविसंवादित्व का लक्षण और जोड़ दिया। यह अर्थ अविसंवादित्व प्राभाकरों के व्यवहार अविसंवादित्व से भिन्न है। व्यवहार अविसंवादित्व का निर्णय व्यवहार द्वारा ही हो सकता है जबकि अर्थ अविसंवादित्व के लिए व्यवहार की कोई आवश्यकता नहीं है। अपने ही अर्थ अर्थात् विषय का बाधित न होना ही यहाँ प्रामाण्य का लक्षण है। जब तक किसी ज्ञान का विषय अन्य विषय से बाधित न हो, वह ज्ञान प्रमा है। उम्बेक के इस नये लक्षण से कुमारिल की परिभाषा की कठिनाई तो अवश्य दूर हो गई, किन्तु फिर भी समस्या के समाधान में इससे विशेष सहायता नहीं मिली। यह तो ठीक है कि अर्थ अविसंवादित्व केवल प्रमा का ही लक्षण हो सकता है तथा ज्योंही उस विषय में विसंवाद उत्पन्न हो जाता है वह अप्रमा की कोटि में आ जाता है। इससे मीमांसकों के स्वतः प्रामाण्यवाद का भी इस दृष्टि से रक्षण हो जाता है तथा परतः अप्रामाण्यवाद का भी। किसी भी ज्ञान का जो विषय होता है उसका जब तक बाध न हो वह प्रामाण्य रूप ज्ञात होता है तथा उसका परतः बाध होने के कारण ज्ञान परतः अप्रामाण्य होता है।

किन्तु गहराई से विचार करने पर हम पाते हैं कि यह समाधान एक प्रतीति मात्र है। अर्थ अविसंवाद का अंततः क्या वही अर्थ नहीं है जो कुमारिल के बोधात्मकत्व

1. तस्माद् बोधात्मकत्वेन स्वतः श्लोक वार्तिक 2.53
2. यथार्थाविसंवादित्वमस्ति, तत्र प्रामाण्यम्। भट्ट उम्बेक: तात्पर्य टीका, (मद्रास संस्कृत सीरिज़), पृ० 54

का है। हमारे ज्ञान का विषय सदैव एक ही रहता हो ऐसा कोई भी नहीं मानता। उसमें परिवर्तन होता ही रहता है। इस समय मेरे ज्ञान का विषय पुस्तक है। इसके पश्चात् मेरा ध्यान मेज़ की ओर जाता है तथा अब मेरे ज्ञान का विषय पुस्तक न रह कर मेज हो गया। किन्तु विषय के परिवर्तन होने पर भी यह अर्थ-विसंवाद नहीं है। हमारे पुस्तक-ज्ञान तथा इसके पश्चात् मेज-ज्ञान दोनों को ही वास्तव में अर्थ-अविसंवादित्व प्राप्त है तथा ये दोनों ही ज्ञान प्रामाण्य रूप हैं। एक ही ान का एक ही समय में विसंवाद असंभव है। यह केवल भिन्न-भिन्न क्षणों में ही हो सकता है। तथा इसलिए अर्थ-विसंवाद का रूप मात्र यह हो सकता है कि एक ही विषय के बारे में पहले क्षण मुझे एक प्रकार के अर्थ का प्रकाशन हो रहा है तथा दूसरे क्षण दूसरे अर्थ का। जिस वस्तु को पहले क्षण मैं सर्प रूप देख रहा था वही वस्तु अब दूसरे क्षण में रस्सी रूप प्रकाशित हो रही है। किन्तु प्रश्न यह है कि पहले ज्ञान का विसंवाद किस प्रकार होता है। उम्वेक की परिभाषा इस प्रश्न के उत्तर के सम्बन्ध में मौन है जबकि रामानुजाचार्य का 'व्यवहार अविसंवाद' रूप में प्रमा का लक्षण इसका स्पष्ट उत्तर प्रदान करता है: 'व्यवहार के द्वारा'। 'कारण दोष के ज्ञान के द्वारा' यह दूसरा उत्तर भी इसका दिया जा सकता है। किन्तु जैसा कि अभी हम देखेंगे दोनों ही उत्तरों से प्रामाण्य स्वतः सिद्ध न होकर परतः सिद्ध होता है। अतः उम्वेक एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न के उत्तर में चुप रहकर स्वतः प्रामाण्यवाद की दिशा मे कोई महत्त्वपूर्ण योगदान नही करते।

पार्थसारथी[1] ने ज्ञान प्रमा तथा विषय प्रमा मे भेद किया है। जब हमें किसी विषय का ज्ञान हो रहा होता है तो उस ज्ञान मे उस विषय का प्रकाशित होना ही उस ज्ञान का विषय प्रमात्व है। ज्ञान के प्रामाण्य का ज्ञान 'यह ज्ञान सत्य है', इस रूप में होता है। किन्तु स्वतः प्रमाण्यवाद के सिद्धांत के अनुसार ज्ञान का ज्ञान तथा उसके प्रामाण्य का ज्ञान साथ ही साथ होना चाहिए, अतः प्रामाण्य के पहले ज्ञान अज्ञात ही रहना चाहिए। किन्तु जैसा अभी कहा गया है ज्ञान-प्रामाण्य में ज्ञान का ज्ञान, प्रामाण्य के ज्ञान के पहले अवश्य होना चाहिए तभी तो 'यह ज्ञान सत्य है' इस रूप में ज्ञान, प्रामाण्य का ज्ञान होगा। इस प्रकार, यह बात स्वतः प्रामाण्य के विरुद्ध जाती है। इस कठिनाई से बचने के लिए उन्होंने प्रामाण्य को विषय तथात्त्व के रूप में ही परिभाषित करना उचित समझा। ज्ञान के प्रकाशन के साथ ही विषय का प्रकाशन भी होता है तथा यही उस ज्ञान का प्रामाण्य है। किन्तु इस अर्थ में यद्यपि विषय का स्वयं प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है, ज्ञान का प्रामाण्य यहाँ गौण हो जाता है।

पार्थसारथी विषय तथात्व को उसी अर्थ मे प्रयुक्त नहीं करना चाहते जिस अर्थ में रामानुजाचार्य ने याथार्थ्य को किया है। याथार्थ्य सभी ज्ञान का लक्षण है किन्तु

1. न्याय रत्नमाला, पृ॰ 71 (रामशास्त्री द्वारा संपादित)

विषय तथात्व को वे केवल प्रमा का लक्षण है, मानना चाहते हैं। वास्तव में प्रमा से अप्रमा का भेद करने के लिए ही उन्होंने इस पद का प्रयोग भी किया है। किन्तु पार्थसारथी अपने कार्य में सफल नहीं हुए हैं। यदि विषय तथात्व का अर्थ प्रत्येक ज्ञान के अपने विषय से लें तो इसका याथार्थ्य से भेद समाप्त हो जाता है तथा यह प्रमा एवं अप्रमा दोनों का समान रूप से गुण हो जाता है। यदि इसका अर्थ उस ज्ञान से परे जाकर यह लें कि जहाँ ज्ञान विषय को अपने अपनी-रूप में प्रकाशित करे वहाँ उसे विषय तथात्व होगा तथा जहाँ वह उस विषय को अन्य रूप में प्रकाशित करे, या ज्ञान में जो विषय प्रकाशित हो रहा है उसे, यथार्थता नहीं है, तब यद्यपि याथार्थ्य से तो इसकी भिन्नता अवश्य सिद्ध हो जाती है, किन्तु इस रूप में विषय तथात्व ज्ञान में स्वतः प्रकाशित नहीं हो सकता जैसा कि हम अभी आगे चलकर देखेंगे।

गागा भट्ट ने इस बात को भली प्रकार समझा है कि प्रामाण्य को याथार्थ्य अथवा इसी जैसे किसी अन्य अर्थ में समझना कोई विशेष व्यावहारिक महत्त्व नहीं रखता और न ही इससे समस्या का समाधान प्राप्त होता है। इसलिए उन्होंने प्रमा का लक्षण 'अज्ञात विषयकम् बाधक ज्ञान रहितम् ज्ञानम् प्रमा' माना है।[1] किन्तु प्रमा के इस लक्षण को स्वीकार कर लेने पर यह समझना कठिन हो जाता है कि फिर वे अपने मत के अनुकूल प्रामाण्य को स्वतः किस प्रकार स्वीकार कर सकते हैं? अबाधितता स्वतः प्रामाण्य से कहाँ तक संगत है इस प्रश्न पर हम वेदान्त के प्रसंग में विस्तार से विचार करेंगे।

भाट्ट मीमांसकों के अनुसार ज्ञान स्वतः प्रकाशित नहीं है। ज्ञान के ज्ञान के विषय में वे परतः प्रकाशवादी हैं। उनकी मान्यता है कि ज्ञान केवल विषय को ही प्रकाशित करता है स्वयं ज्ञान को नहीं। इस मत के पीछे उनका मुख्य तर्क यह है कि एक ही वस्तु ज्ञाता तथा ज्ञेय दोनों एक साथ नहीं हो सकती। ज्ञान का मुख्य कार्य विषय को प्रकाशित करना है अतः वह इस दृष्टि से ज्ञाता होता है इसीलिए इसके साथ-साथ यह ज्ञेय नहीं हो सकता तब प्रश्न है कि ज्ञान के अस्तित्व के विषय में क्या प्रमाण है? हम यह कैसे कह सकते हैं ज्ञान नामक कोई वस्तु होती है। भाट्ट मीमांसक ज्ञान की सत्ता को अपरोक्ष ज्ञान द्वारा नहीं वरन् परोक्ष रूप से अर्थापत्ति के द्वारा सिद्ध करते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार पकाने पर चावलों में पाकता नामक एक नया गुण उत्पन्न हो जाता है तथा उस गुण को जानकर हम यह ज्ञान प्राप्त करते हैं कि इसे पकाया गया है यद्यपि पकाते समय हमने उसे नहीं देखा था, इसी प्रकार जब कोई विषय ज्ञान में प्रकाशित होता है तो हम देखते हैं कि पहले यह विषय अज्ञात था अब यह ज्ञात हुआ है। इस विषय में यह जो परिवर्तन आया, जिसने इसे अज्ञान की कोटि से ज्ञात की कोटि में ला दिया, इसमें किसी नये गुण की उत्पत्ति के द्वारा ही

1. भाट्ट चिन्तामणि, पृ० 13

सम्भव है। भाट्ट मीमांसक इस गुण को ज्ञातता का गुण कहते हैं। अब प्रश्न उठता है कि इस विषय में यह नया गुण कैसे उत्पन्न हो गया तथा भाट्ट मानते हैं कि इसकी एक मात्र व्याख्या यही हो सकती है कि इसका ज्ञान हुआ या इसी से यह ज्ञात हुआ। इस प्रकार, अर्थापत्ति द्वारा हमें ज्ञान का ज्ञान होता है। तथा भाट्ट मीमांसक आगे कहते हैं कि जिस अर्थापत्ति से ज्ञान का ग्रहण होता है, उस ज्ञान में रहने वाले प्रामाण्य का ज्ञान भी उसी अर्थापत्ति से हो जाता है। इस प्रकार, ज्ञान-ग्राहक और प्रामाण्य-ग्राहक सामग्री समान हो जाने से स्वतः प्रामाण्य है।

ज्ञातता के पक्ष में तर्क देते हुए मीमांसक कहते हैं[1] कि जब हमे घट-ज्ञान होता है तो वह घट ही से उत्पन्न हुआ है इस विषय नियम का क्या प्रमाण है। न्याय इसका उत्तर तदुत्पत्ति के रूप में दे सकते हैं। वे कह सकते हैं कि घट-ज्ञान के कारण घट रूप में घट की सत्ता सिद्ध होती है। घट-ज्ञान घट से ही उत्पन्न हो सकता है, पट से नहीं। किन्तु इस पर मीमांसक कहते हैं कि घट-ज्ञान का कारण केवल घट नहीं है, प्रकाश भी है, और इसलिए, फिर तो प्रकाश से भी घट-ज्ञान हो जाना चाहिए था। बौद्ध तदाकारता या तादात्म्य के द्वारा इस नियम की व्याख्या करते हुए कह सकते हैं कि वास्तव में विषय तथा ज्ञान मे अभेद है। किन्तु मीमांसक इसका भी खंडन करते हुए कहते हैं कि विषय तथा उसके ज्ञान मे भेद है। विषय का बाह्य अस्तित्व है। ज्ञान का विषय की भांति बाह्य अस्तित्व नही माना जा सकता। अतः मीमांसक कहते हैं कि इस नियम की समुचित व्याख्या मात्र ज्ञातता नामक धर्म की उत्पत्ति को मान कर की जा सकती है।

केशव मिश्र[2] उपरोक्त मीमांसक मत का खंडन करते हुए कहते हैं कि यदि मीमासकों की बात मान ली जाये, तो अनागत तथा अतीत पदार्थों का ज्ञान कभी भी समव नहीं होगा। इस मत के अनुसार ज्ञान का विषय वही हो सकता है जो ज्ञान से उत्पन्न ज्ञातता का आधार हो। ज्ञान सदैव वर्तमान मे उत्पन्न होता है तथा वर्तमान ज्ञातता का आधार वर्तमान पदार्थ ही हो सकता है। अतीत तथा अनागत पदार्थों का वर्तमान मे कोई अस्तित्व नही है तथा जिस पदार्थ का इस समय अस्तित्व ही नहीं है उसमे ज्ञान के द्वारा इस समय हम कोई ज्ञातता नामक धर्म भी उत्पन्न नही कर सकते हैं। फलस्वरूप समस्त भूतकालीन व भविष्यकालीन विषय सर्वथा अज्ञात होंगे, जो अनुभव विरुद्ध हैं।

दूसरे, मीमांसको के इस मत मे अनवस्था दोष है। ज्ञातता नामक यह धर्म स्वयं ज्ञान का विषय है तथा इसके लिए हमें इसमे भी ज्ञातता का धर्म उत्पन्न मानना होगा तथा फिर यह शृंखला अनंत काल तक चला करेगी।

1. केशव मिश्र : तर्क भाषा : प्रामाण्यवाद
2. तर्क भाषा : प्रामाण्यवाद

तासर, विषय का प्रकाशन तो प्रमा तथा अप्रमा दोनों प्रकार के ज्ञान में होता है। इसलिए ज्ञातता की उत्पत्ति न केवल यथार्थ ज्ञान में वरन् अयथार्थ ज्ञान में भी माननी होगी। तथा फिर, जिस प्रकार यथार्थ ज्ञान की ज्ञातता से उसके प्रामाण्य का स्वतः ही बोध हो जाता है उसी प्रकार अयथार्थ ज्ञान की ज्ञातता से उसके अप्रामाण्य का भी स्वतः ही बोध हो जाना चाहिए था किन्तु यह बात भाट्टों के परतः अप्रामाण्यवाद के विरुद्ध जाती है।

पार्थसारथी स्वतः प्रामाण्यवाद तथा परतः अप्रामाण्यवाद के अपने सिद्धांत के संबंध में संभावित भ्रांति की चर्चा करते हुए उससे बचने के लिए सावधान करते हैं। उनका कहना है[1] कि स्वतः प्रामाण्यवाद का यह अर्थ नहीं है कि समस्त ज्ञान सत्य ही उत्पन्न होता है। और न ही परतः अप्रामाण्यवाद का यह अर्थ है कि जो ज्ञान सत्य उत्पन्न हुआ था वह बाद में कुछ परतः कारणों से असत्य हो जाता है। वास्तव में सत्य ज्ञान सत्य ही उत्पन्न होता है तथा मिथ्या ज्ञान मिथ्या ही उत्पन्न होता है। प्रमात्व तथा अप्रमात्व ज्ञान के गुण हैं तथा ये गुण प्रारंभ से ही ज्ञान में विद्यमान रहते हैं यद्यपि अप्रमा ज्ञान भी प्रारंभ में प्रमा रूप ही ज्ञात होता है तथा बाद में अन्य ज्ञान अप्रमा रूप सिद्ध होता है। किन्तु फिर भी प्रश्न उठेगा कि तब क्या मीमांसक उत्पत्ति की दृष्टि से स्वतः प्रामाण्यवादी तथा स्वतः ही अप्रामाण्यवादी दोनों हैं? पार्थसारथी ऐसा नहीं मानते। उनका कहना है कि ज्ञान के स्वाभाविक कारण सदैव ज्ञान को प्रमा रूप ही उत्पन्न करते हैं। ज्ञान कारण का अपना स्वभाव दोषरहित ही होता है तथा ये दोष रहित कारण स्वभावतः ही प्रमा रूप ज्ञान को उत्पन्न करते हैं। किन्तु जब कभी उनमें बाहर से दोष उत्पन्न हो जाते हैं तब वह अप्रमा रूप ज्ञान को जन्म देते हैं। सामान्य प्रकाश, स्वस्थ इन्द्रियाँ आदि ज्ञान के सामान्य कारण हैं तथा इनसे ज्ञान प्रमा रूप ही उत्पन्न होगा। जब इन्द्रियों में इनके स्वभाव के विपरीत बाहर से दोष आ जाते हैं तब इसमें परतः अप्रामाण्य उत्पन्न होता है।

ज्ञप्ति की दृष्टि से प्रामाण्य की चर्चा करते हुए कुमारिल[2] कहते हैं कि किसी भी ज्ञान के प्रामाण्य का ज्ञान उसके बोधात्मकत्व की प्राप्ति के साथ ही साथ हो जाता है। तथा इसके अप्रामाण्य का ज्ञान उसका भिन्न रूप में ज्ञात (बाधक प्रत्यय) होने पर या उस ज्ञान के कारण में दोष का पता लगने पर (दोष ज्ञान) होता है। इस प्रकार, ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः होता है तथा संशय के अतिरिक्त समस्त ज्ञान अपने सत्य होने का निश्चय अपने साथ स्वतः उत्पन्न करता है।

इसके सम्बन्ध में यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि जिस ज्ञान के साथ उसके

1. पार्थ सारथी : न्याय रत्नमाला पृष्ठ 31
2. श्लोक वार्तिक 2.53

सत्य होने का विश्वास भी उत्पन्न होता है वह इस प्रकार स्वतः प्रामाण्य ज्ञात होता है तथा साथ ही साथ जिस ज्ञान मे इस प्रकार का विश्वास उत्पन्न नहीं होता वह स्वतः ही अप्रामाण्य भी ज्ञात होना चाहिए। इस तर्क से मीमांसक मात्र स्वतः प्रामाण्यवादी ही नहीं रहते स्वतः अप्रामाण्यवादी भी हो जाते हैं। किन्तु इसका उत्तर देते हुए पार्थसारथी[1] का कहना है कि वास्तव मे कोई भी ज्ञान जब सर्वप्रथम ज्ञात होता है तब प्रामाण्य रूप ही ज्ञात होता है। जो ज्ञान वास्तव मे प्रमा रूप न होकर अप्रमा रूप भी होता है वह भी प्रथम तो प्रामाण्य रूप ही ज्ञात होता है। इसके पश्चात् अन्य ज्ञान के द्वारा ज्ञान करण से भिन्न सामग्री के द्वारा इसका अप्रामाण्य ज्ञात होता है। अतः मीमांसकों के अनुसार अप्रामाण्य स्वतः सिद्ध न होकर परतः ही सिद्ध होता है। पार्थसारथी का यह उत्तर ब्रह्मानन्द सरस्वती के मत के समान ही है। अतः इस प्रश्न पर हम उसी प्रसंग में आगे विस्तार से विचार करेंगे।

शांत रक्षित ने अपने तत्त्व संग्रह में तथा उसकी टीका में कमलशील ने मीमांसकों के स्वतः प्रामाण्यवाद तथा परतः अप्रामाण्यवाद की विस्तार से आलोचना की है। शांत रक्षित का कहना है कि जब मीमांसक ज्ञान का ज्ञान ही स्वतः नही मानते हैं तब भला उसका प्रामाण्य कैसे स्वतः मान सकते हैं ?[2] मीमांसकों की दृष्टि से इसके उत्तर की हम चर्चा कर चुके हैं। मीमांसक स्वतः प्रामाण्यवाद से अर्थ ज्ञान तथा प्रामाण्य की ग्राहक सामग्री के एक होने से है तथा उनके अनुसार इन दोनों का ज्ञान अर्थापत्ति द्वारा होने से उनके स्वतः प्रामाण्यवाद मे कोई विरोध नही है।

दूसरे कमलशील ने कई स्थलों पर मीमांसकों के मीमांसा मत मे अनवस्था दोष होने की चर्चा की है। उनका कहना है कि ज्ञान का प्रामाण्य उनके कारण दोषरहितता पर निर्भर होता है। जब हमे कोई ज्ञान होता है तो उस समय हमें उस ज्ञान के कारण कोई दोष दिखलाई नही देता। किन्तु ज्ञान का ज्ञान एक बात है तथा उसके कारणों के दोषरहित होने का ज्ञान एक दूसरी बात है। किन्तु दोषरहितता का यह ज्ञान बिना ज्ञान के ज्ञान के नहीं हो सकता तथा इस प्रकार इसमें अनवस्था दोष है।[3] परतः अप्रामाण्य मे[4] कई कठिनाइयों की संभावना है। ज्ञान को परतः अप्रामाण्य मान लेने पर अनवस्था दोष होता है। एक ज्ञान का अप्रामाण्य यदि दूसरे पर निर्भर है तब उसका भी अप्रामाण्य फिर तीसरे ज्ञान पर निर्भर होगा तथा इस प्रकार इसमें अनवस्था होगा। किन्तु इस आपत्ति का उत्तर देते हुए पार्थसारथी[5] कहते हैं कि अवस्था दोष

1. न्याय रत्नमाला पृष्ठ 34 (चौखंभा)
2. कारिका 2840
3. कारिका 2856.57
4. कारिका 2811
5. श्लोक वार्तिक पर न्याय रत्नाकर 2.57

तब उत्पन्न होता है जब दोनों ज्ञान एक ही कोटि के हों। यदि एक ज्ञान का प्रामाण्य दूसरे ज्ञान के प्रामाण्य पर निर्भर हो तो अनवस्था दोष होता है। इसी प्रकार, एक ज्ञान का अप्रामाण्य यदि दूसरे ज्ञान के अप्रामाण्य पर निर्भर हो तब भी अनवस्था दोष हो सकता है, किन्तु यहाँ पर तो एक ज्ञान का अप्रामाण्य बाधक प्रत्यय अथवा दोष ज्ञान के प्रामाण्य पर निर्भर है अतः इसमें अनवस्था दोष नहीं है।

यहाँ पर यह समस्या भी उत्पन्न हो सकती है कि प्रथम ज्ञान जब दूसरे ज्ञान के द्वारा विरोध होता है तब दूसरे ज्ञान को ही सत्य क्यों माना जाय, प्रथम ज्ञान को ही क्यों न प्रमा रूप माना जाए? अनेक बार ऐसा भी होता है कि पहले ज्ञान का दूसरे ज्ञान द्वारा बाध हो जाता है तथा फिर तीसरे ज्ञान द्वारा उस दूसरे ज्ञान का बाध होकर पुनः प्रथम ज्ञान का ही प्रामाण्य होता है।

इसका उत्तर देते हुए पार्थसारथी[1] कहते हैं कि दो ज्ञानों के बीच बाध्य-बाधक भाव ज्ञाता की इच्छा पर आश्रित नहीं है। जब प्रथम ज्ञान उत्पन्न हुआ था उस समय दूसरे ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हुई थी और इसलिए वह दूसरे ज्ञान को बाधित नहीं कर सकता था। किन्तु जब दूसरा बाधक ज्ञान उत्पन्न होता है तो वह प्रथम ज्ञान के पश्चात् तथा उसे विरोधी स्वभाव वाला प्रकाशित करके ही उत्पन्न होता है। दूसरा ज्ञान अपनी उत्पत्ति द्वारा ही प्रथम ज्ञान का खण्डन करता है और इसलिए प्रथम ज्ञान से दूसरे ज्ञान का खण्डन नहीं हो सकता, दूसरे ज्ञान से ही प्रथम ज्ञान का खण्डन होता है।

आगे कमलशील कहते[2] हैं कि मीमांसक यह मानते हैं कि अप्रमा रूप ज्ञान भी प्रथम तो प्रमा रूपा ही ज्ञात होता है। इसका अर्थ यह है कि अप्रमा प्रमा का कारण होता है जो ठीक नहीं है। अप्रमा से प्रमा ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। किन्तु यह आलोचना भी इस बात को मान कर चलती है कि हमें कभी भ्रम हो ही नहीं सकता। भाट्ट मीमांसक मानते हैं कि कारण दोष से प्रभावित होकर अप्रमा ज्ञान भी प्रमा रूप से ज्ञात हो सकता है।

कमलशील मीमांसकों से पूछते हैं[3] कि उनका स्वतः से क्या तात्पर्य है? क्या उनका यह आशय है कि प्रामाण्य नित्य है? अतः उसे कारण की आवश्यकता नहीं है तथा इससे वह आत्मनिर्भर तथा स्वतः है। अथवा, इसका अर्थ है कि यद्यपि प्रामाण्य नित्य नहीं है किन्तु ज्ञान के कारण से ही उसी के साथ यह उत्पन्न होता है। किन्हीं अन्य बाह्य कारणों से इसकी उत्पत्ति नहीं होती। प्रथम अवस्था में

1. वही 2.57
2. कारिका 2811
3. कारिका 2817-19

प्रश्न उठता है कि यह प्रामाण्य की शक्ति ज्ञान से भिन्न है अथवा अभिन्न या फिर इससे भिन्न तथा अभिन्न दोनों है, या इनमें से कोई भी नही है। ये दोनों पृथक् नहीं मानी जा सकती क्योंकि इन दोनों के भिन्न होने पर इनमे इस प्रकार का सम्बन्ध कैसे स्थापित होगा ? प्रामाण्य की शक्ति को ज्ञान से भिन्न मानने पर ज्ञान मे प्रामाण्य स्वत. स्वीकार नहीं किया जा सकता। तथा यदि शक्ति को किसी वस्तु में बाह्य मानें तब उस वस्तु से क्रिया असम्भव हो जाएगी। साथ ही यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती कि किसी वस्तु से उसकी शक्ति भिन्न है। वे अपने मत के अनुसार तर्क करते हैं कि अर्थ-क्रियाकारित्व जो वस्तु की क्रिया उत्पन्न करने की शक्ति है वस्तु से भिन्न नही हो सकती। इस शक्ति के अभाव में वह वस्तु ही सत्वहीन हो जाएगी। दूसरी अवस्था मे यदि इस शक्ति को ज्ञा‍ से अभिन्न मानें तब प्रामाण्य स्वतः नहीं हो सकता। क्योंकि ज्ञान नित्य नहीं है, वह अपने कारणों से उत्पन्न तथा ज्ञात होता है। तीसरी अवस्था[1] जिसके अनुसार शक्ति अभिन्न तथा भिन्न दोनों हैं स्वीकार नहीं की जा सकती क्योकि इन दोनों में आपस में विरोध है। तथा चौथी अवस्था भी अस्वीकार्य है। भिन्नता तथा अभिन्नता दोनों परस्पर विरोधी हैं अतः दोनों मे से एक अवस्था अवश्य ही ठीक होनी चाहिए।

इस पर यदि मीमासक यह कहें कि यद्यपि यह शक्ति नित्य है किन्तु इसका तिरोभाव रहता है तथा फिर उचित अवस्था उपस्थित होने पर इसका आविर्भाव होता है। किन्तु इस पर शांतरक्षित का कहना है कि नित्य वस्तु का तिरोभाव व आविर्भाव स्वीकार नही किया जा सकता।[2]

इस प्रकार, प्रथम विकल्प की आलोचना का उपसंहार करते हुए शांतरक्षित कहते हैं कि शक्ति को स्वतः मानने पर ज्ञान को निश्चित रूप से नित्य मानना पड़ेगा अतः प्रथम विकल्प स्वीकार करने योग्य नही है।[3]

दूसरे विकल्प की चर्चा करते हुए शांतरक्षित कहते हैं कि उत्पत्ति की दृष्टि से स्वतः प्रामाण्यवाद को लेकर मीमांसकों तथा हममें कोई मतभेद नही है।[4] वे कहते हैं कि कोई भी व्यक्ति यह स्वीकार नहीं करेगा कि अविभाज्य वस्तु की अपनी शक्ति उसकी उत्पत्ति के साथ ही उसमें विद्यमान नहीं रहती है वरन् बाद में उस पर अन्य कारणो से आरोपित की जाती है। कारण कि इस प्रकार के शक्ति के बाह्य आरोपण से वस्तु का स्वरूप ही बदल जाता है। बौद्धों का मीमांसकों से इस बात को लेकर मतभेद है कि यद्यपि यह प्रामाण्य शक्ति वस्तु में प्रारम्भ से ही स्वतः

1. कारिका 2824
2 कारिका 2823-2824
3. कारिका 2825
4. कारिका 2827-29

विद्यमान होती है तथापि इसका ज्ञान उसी समय न होकर बाद में अर्थ ज्ञान के द्वारा होता है।[1]

इसके अतिरिक्त उनका कहना है कि स्वतः प्रामाण्यवाद मान लेने पर संशय के लिए कोई स्थान नहीं रहता। इससे ज्ञान में न तो भ्रम की ही कोई सम्भावना होती है और न किसी प्रकार का कोई मतभेद ही उत्पन्न होता है। किन्तु चूँकि सभी दार्शनिक संशय, भ्रम तथा मतभेद की स्थिति को स्वीकार करते हैं अतः स्वतः प्रामाण्यवाद दूषित है।[2] साथ ही शांतरक्षित मीमांसकों के इस दावे को भी चुनौती देते हैं कि हमें ज्ञान में कभी अविश्वास होता ही नहीं। वे कहते हैं कि कई बार ज्ञान होते समय ही उसमें अविश्वास की भावना रहती है।[3] ऐसे उदाहरण मिल जाना कठिन नहीं है जब प्रारम्भ से ही भ्रम भ्रम रूप में ही ज्ञात हो। पांडु रोग से पीड़ित कोई व्यक्ति जब वस्तुओं को पीली देखता है तब ज्ञान के समय ही उसका उस ज्ञान की सत्यता में अविश्वास होता है।

शाबर भाष्य की चर्चा करते हुए कमलशील कहते हैं कि शबरस्वामी[4] स्वयं यह मानते हैं कि अच्छी तरह परीक्षण कर लेने पर जब हम यह पाते हैं कि कारण में कोई दोष नहीं है तभी उसे प्रामाण्य रूप माना जाना चाहिए। किन्तु यह स्वतः प्रामाण्य के विरुद्ध जाता है। प्रथम ज्ञान प्रामाण्य रूप इसलिए नहीं माना जाता कि इसमें यह संशय रहता है कि कहीं यह ज्ञान दोष युक्त कारणों से तो उत्पन्न नहीं हुआ है?[5]

बड़ा प्रबल तर्क देते हुए शांतरक्षित[6] कहते हैं कि यदि हम मीमांसकों की यह बात मान भी लें कि सामान्य रूप से नियमेन ही प्रत्येक ज्ञान स्वतः प्रामाण्य होता है तथा इसका अप्रामाण्य परतः या तो विसंवादी ज्ञान द्वारा या कारण दोष ज्ञान द्वारा होता है, तब भी इस प्रामाण्य का आधार बाध का अभाव तथा कारण दोष ज्ञान का अभाव होगा। चूँकि अभाव का ज्ञान भाट्ट मीमांसकों के अनुसार अनुपलब्धि तथा बौद्धों के अनुसार अनुमान से होता है, मीमांसक वास्तव में परतः प्रामाण्यवादी ही सिद्ध होते हैं।

अद्वैतवेदान्ती प्रमा का लक्षण अबाधित्व स्वीकार करते हैं।[7] किन्तु अंशादि

1. कारिका 2833
2. कारिका 2928-30, 2940, 2944
3. कारिका 2954
4. शाबर भाष्य 1-1-5
5. कारिका 2994-95
6. कारिका 2997-99
7. धर्मराज : वेदान्त परिभाषा प्रत्यक्ष परिच्छेद

मधुसूदन सरस्वती[1] ने स्वयं स्वीकार किया है, इस अर्थ में प्रामाण्य स्वतः नहीं हो सकता। इस कठिनाई से बचने के लिए विवरण प्रामाण्य की परिभाषा 'प्रामाण्यम् नाम ज्ञानस्यार्थ परिच्छेद सामर्थ्यम्' के रूप मे दी है जिसका अर्थ है कि प्रत्येक ज्ञान में अपने विषय को प्रकाशित करने का सामर्थ्य है। यह परिभाषा रामानुजाचार्य के याथार्थ्य तथा कुमारिल के बोधात्मकत्व से मूल रूप मे भिन्न नहीं है। यह लक्षण प्रमा एवं अप्रमा दोनों में ही व्याप्त है।

गौड़ ब्रह्मानन्दी के अनुसार अबाधित्व का ज्ञान स्वतः नहीं हो सकता तथा इसे प्रमा का लक्षण स्वीकार कर लेने से स्वतः प्रामाण्यवाद का खण्डन होता है। इस कठिनाई का हल उन्होंने एक दूसरे प्रकार से निकालने का प्रयास किया है। उनका कहना है[2] कि ज्ञान जब तक बाधित न हो प्रमा रूप ही ज्ञात होता है तथा उसे प्रमा रूप ही माना भी जाना चाहिए। जब उसका बाध हो जाए तब वह अप्रमा होता है। अबाधित रूप मे पहले जो ज्ञान प्रमा रूप मे ज्ञात हो रहा था उसे अब ज्ञान की संज्ञा न देकर ज्ञानाभास कहा जाएगा।

मोहन्ती[3] ने इस समाधान में जहाँ यह विशेषता स्वीकार की है कि यह प्रमा तथा अप्रमा के भेद को रखते हुए भी स्वतः प्रामाण्यवादी सिद्धान्त के अनुकूल है, वहीं इसमें कुछ दोष भी बतलाए है। उनके अनुसार यह परिभाषा मनोवैज्ञानिक है तथा इसमें निषेधात्मक तथा चक्रक होने का दोष भी है।

प्रमा की एक आवश्यक शर्त उस ज्ञान के सत्य होने में विश्वास भी है। जिस ज्ञान को हम प्रमा रूप स्वीकार करते हैं उसमे निश्चय की यह भावना आवश्यक है। निश्चय के इस अभाव मे कोई ज्ञान कभी भी प्रमात्व रूप स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसलिए स्वत. प्रामाण्यवादी आवश्यक रूप से स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक ज्ञान अपने साथ अपने सत्य होन का ज्ञान भी उत्पन्न करता है। ज्ञान की उत्पत्ति के साथ उत्पन्न होने वाला एक अन्य भाव है उसके प्रमात्व मे विश्वास। तथा स्वतः प्रामाण्यवादियो के साथ यह निश्चय की भावना ही उसे स्वतः प्रमात्व प्रदान करती है। बाद में कोई अन्य ज्ञान जब उस ज्ञान को बाधित कर अप्रमा रूप सिद्ध करता है तब उस निश्चय का खण्डन होता है।

ज्ञान के सत्य होने के विषय मे दो प्रकार का निश्चय हो सकता है। प्रथम मनोवैज्ञानिक तथा दूसरा तार्किक। चूँकि ज्ञान उत्पन्न होने के साथ ही होने वाला

1. अद्वैत सिद्धि पृष्ठ 312
2. व्यवहार कालाबच्छिन्नस्य मिथ्यात्वनिश्चया विषयत्वस्य च आश्रया. तद्विषयकधिस्वरूपम्। तथा मिथ्यात्वेन अज्ञातम् यत् तद् विषयक ज्ञानत्व रूप प्रमात्वस्य ज्ञान सामान्यग्राहक साक्षी ग्राह्यत्व रूप स्वतो ग्राह्यत्व सम्भवात् अद्वैत सिद्धि पृष्ठ 351-352
3. Gangesh's theory of truth PP. 16-17

निश्चय बिना परीक्षण के होता है अतः वह तार्किक न होकर मात्र मनोवैज्ञानिक होता है। उस निश्चय को तार्किक रूप बाद में उस ज्ञान का परीक्षण ही प्रदान कर सकता है। चूँकि प्रामाण्य का प्रश्न मनोवैज्ञानिक न होकर तार्किक है, स्वतः प्रामाण्य वादियों का यह मनोवैज्ञानिक निश्चय उसे वास्तव में प्रमात्व प्रदान नहीं करता। चूँकि हम किसी ज्ञान को प्रमा रूप समझते हैं इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि वह वास्तव में प्रमा रूप ही होता है। अतः इस दृष्टि से मोहन्ती की आलोचना ठीक ही प्रतीत होती है।

किन्तु यदि एक अन्य दृष्टि से ज्ञान की प्रक्रिया तथा उसके प्रामाण्य पर हम विचार करें तो गौड़ब्रह्मानन्दी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त बड़ा ही महत्वपूर्ण सिद्ध होता है। कार्नप[1] आदि आधुनिक दार्शनिकों ने ज्ञान के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह स्वीकार किया है कि निरपेक्ष रूप से किसी भी ज्ञान का पूर्ण प्रामाण्यीकरण कभी भी सम्भव नहीं है। हमारे पास ऐसा कोई तरीका नहीं है जिससे यह अंतिम रूप से निर्णय किया जा सके कि कोई ज्ञान निश्चित रूप से सत्य है ही तथा उसके असत्य होने की कोई तार्किक सम्भावना भी नहीं है। हमारे ज्ञान का स्वरूप ही ऐसा है कि उसमें शंका करने की गुंजायश बनी ही रहती है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार भी केवल आत्म ज्ञान कभी भी असत् प्रमाणित नहीं किया जा सकता। अन्तिम तथा पूर्ण प्रामाण्य केवल इसी ज्ञान को प्राप्त है। इसीलिए इस ज्ञान को नित्य तथा कूटस्थ कहा गया है। अन्य ज्ञान जिन्हें विज्ञान कहा जा सकता है, सदैव बदलता रहता है। चिंतन तथा नई-नई खोजों के साथ हमारे विज्ञान का स्वरूप भी बदलता रहता है। इस प्रकार, विज्ञान के बारे में स्वतः प्रामाण्यवादी इस मत से सहमत होंगे कि यद्यपि किसी भी ज्ञान का अप्रामाण्यीकरण निश्चित रूप से सम्भव है, उसका इसी निश्चितता के साथ प्रामाण्यीकरण कभी भी नहीं हो सकता। आधुनिक काल में कई पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी बड़े बलपूर्वक इस मत का प्रतिपादन किया है।

किन्तु इसी कारण प्रत्येक ज्ञान को यदि अप्रमा रूप मानकर हम निरंतर संशय की ही स्थिति में रहें तो हमारा व्यवहार असम्भव हो जायेगा तथा किसी भी कार्य में हमारी प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। इससे हमारे समस्त विज्ञान का मूल्य भी पूर्ण रूपेण समाप्त हो जायेगा। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। यह सभी जानते हैं कि विज्ञान से समस्त मानव जाति भरपूर लाभ उठा रही है तथा उसमें व्यवहार तथा प्रवृत्ति नित्य प्रति संभव हो रही है। यह भी सभी जानते हैं कि विज्ञान के ये सिद्धांत ऐसे नहीं हैं कि इनके बारे में कभी अप्रमात्मक दृष्टि से देखा ही न जा सकता हो। परिणामतः केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही नहीं वरन् ज्ञान-मीमांसा

1. Truth and confirmation

या दार्शनिक दृष्टि से भी मीमांसा तथा अद्वैत वेदान्त का मत काफी महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। विज्ञान का विश्लेषण हमे इसी निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि जब तक कोई ज्ञान किसी अन्य ज्ञान द्वारा बाधित न हो जाये, उसे प्रमा रूप स्वीकार करना अनुचित नही है। मुख्य प्रश्न यह है कि ज्ञान के प्रामाण्यीकरण मे संशय की भावना को प्रधानता है या विश्वास की भावना को। जैसा कि हम अभी देख चुके हैं, यदि ज्ञान के प्रामाण्यीकरण मे संशय की भावना को प्रधानता दी जाय तब हमारे ज्ञान मे यह सशय तो अन्त तक बना ही रहेगा तथा किसी भी ज्ञान का प्रामाण्यीकरण असंभव होने से सभी भारतीय दार्शनिक दोषपूर्ण मत को प्रतिपादित करने वाले सिद्ध होंगे क्योंकि इस प्रकार के मत को कोई भी प्रतिपादित नही करता। प्रत्येक दर्शन स्वत. या फिर परत ज्ञान का प्रामाण्यीकरण स्वीकार करता ही है। अत यह मानना होगा कि ज्ञान के प्रामाण्यीकरण मे मूल भावना संशय की न होकर विश्वास की है। तथा इस बात को मान लेने पर स्वत प्रामाण्यवाद परत. प्रामाण्यवाद से अधिक युक्त सिद्ध होता है।

परत प्रामाण्यवादियो द्वारा यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि यह बात ठीक है कि किसी भी ज्ञान का पूर्णरूपेण प्रामाण्यीकरण किसी भी ज्ञान के द्वारा नही हो सकता तथा किसी न किसी स्थान पर हमें विश्वास करना ही होगा, किन्तु यह विश्वास स्वतः प्रामाण्यवादियो की भाँति बिना किसी कारण या परीक्षण के नही उत्पन्न होता। जब ज्ञान उत्पन्न होता है तब उसके प्रति हमारी पहली प्रतिक्रिया विश्वास की न होकर सशय की ही होनी है। फिर जहाँ तक संभव होता है, हमारी सीमा के अन्तर्गत हम उसका परीक्षण करते हैं जो प्रवृत्ति अविसंवाद या और कुछ हो सकता है तथा इस ज्ञान के द्वारा ही पूर्व ज्ञान के प्रामाण्य की सिद्धि होती है। स्वत. प्रामाण्यवादियों का ज्ञान के प्रमात्व मे विश्वास केवल मनोवैज्ञानिक हैं जबकि परत प्रामाण्यवादियों का पूर्णरूपेण तार्किक न होते हुए भी काफी सीमा तक तार्किक है अथवा कम-से-कम इतना तार्किक तो है ही कि उसके मिथ्या होने की संभावना कम-से-कम होती जाती है।

किन्तु इस पर स्वत प्रामाण्यवाद का उत्तर होगा कि जब कोई ज्ञान उत्पन्न होता है तब जिन कारणों से वह उत्पन्न होता है उन कारणो का ज्ञान भी साथ ही होता है तथा ज्ञान के उन कारणो के दोष रहित होने का ज्ञान तथा उस ज्ञान के प्रमा रूप होने का ज्ञान साथ ही होता है। इस प्रकार, स्वतः प्रामाण्यवाद के अनुसार भी ज्ञान का प्रमात्व बिलकुल निराधार नहीं होता। उनका कहना है कि कारण के अभाव मे ज्ञान कभी उत्पन्न होगा ही नही तथा ये कारण स्वभावतः तो दोष रहित ही होते हैं। दोष की उत्पत्ति इन कारणों में परतः ही होती है तथा इन दोषों का ज्ञान भी परत. ही अन्य ज्ञान के द्वारा होता है।

विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या ज्ञान का अपने प्रामाण्य के विश्वास के साथ उत्पन्न होना और अपने प्रामाण्य के ज्ञान के साथ उत्पन्न होना एक ही बात है ? क्या ज्ञान तथा विश्वास में कोई अन्तर नहीं है ? मीमांसा का मत ज्ञान तथा विश्वास में कोई अन्तर करता हुआ प्रतीत नहीं होता। यदि यह अन्तर किया जाय तथा ज्ञान को प्रमाणजन्य प्रमा माना जाय तो स्वतः प्रामाण्य (ज्ञप्ति की दृष्टि से) संकट में पड़ जायगा और ज्ञान का प्रमा एवं अप्रमा में भेद भी नहीं किया जा सकेगा। यदि कारण की दोष रहितता के ज्ञान को प्रामाण्य की ज्ञप्ति का आधार माना जाता है तो प्रामाण्य की ज्ञप्ति परतः होगी।

न्याय प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों को परतः मानता है[1] तथा यह भी उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति दोनों ही दृष्टि से। न्याय के अनुसार जिन कारणों से ज्ञान की उत्पत्ति होती है उन्हीं से प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य की उत्पत्ति नहीं होती। प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य ज्ञान के विशिष्ट गुण हैं तथा इसलिए ज्ञान करण के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट गुणों से ही उसमें प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य की उत्पत्ति होती है। ज्ञान उत्पत्ति के सामान्यकरण इन्द्रियों का विषय से सम्पर्क आदि हैं। किन्तु इन कारणों से सामान्य रूप से सभी प्रकार के ज्ञान की उत्पत्ति होती है, चाहे वह प्रमा रूप हो अथवा अप्रमा रूप। ज्ञान की उत्पत्ति में इन सामान्य कारणों के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट कारण भी विद्यमान होते हैं जिन्हें न्याय गुण तथा दोष की संज्ञा देता है। इन सामान्य कारणों के साथ इनमें जब गुण भी वर्तमान होते हैं तब प्रमा रूप ज्ञान की उत्पत्ति होती है तथा जब दोष उपस्थित रहते हैं तब अप्रमा की। इन्द्रियों के गुण उनका शक्तिशाली होना आदि हैं तथा कई प्रकार की औषधियों से ज्ञान करण के इन गुणों में वृद्धि भी की जा सकती है। जब इन स्वस्थ इन्द्रियों आदि से विषय का संपर्क होता है तो इस गुण के कारण ज्ञान में प्रमात्व की उत्पत्ति होती है। पाण्डु रोग, मंद दृष्टि आदि इन्द्रियों के दोष हैं तथा इनके वर्तमान होने से ज्ञान में अप्रमात्व की उत्पत्ति होती है। ये गुण तथा दोष दोनों ज्ञानकरण की विशेष अवस्थाएँ होने से बाह्य मानी जाती हैं और इसलिए न्याय में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों परतः हैं। गुण तथा दोष दोनों का रूप भावात्मक है। गुण मात्र दोष का अभाव नहीं है और न ही दोष केवल गुणों का अभाव है।

ज्ञप्ति की दृष्टि से न्याय के अनुसार ज्ञान तथा प्रामाण्य दोनों की सामग्री अलग-अलग है। उनके अनुसार ज्ञान का ग्रहण अनुव्यवसाय द्वारा होता है। जब हमें ज्ञान होता है तब उसी समय ज्ञान प्रकाशित नहीं होता, अगले क्षण जब हम अपने ज्ञान का स्मरण करते हैं तो उस समय अनुव्यवसाय द्वारा ही उसका ग्रहण होता है। जब कोई ज्ञान ग्रहण किया जाता है उस समय उसके प्रमा या अप्रमा रूप होने का

1. सर्वदर्शन संग्रह : जैमिनी दर्शन, प्रामाण्यवाद

बोध नहीं होता उसके प्रामाण्य का ज्ञान उस ज्ञान के प्रवृत्ति सामर्थ्य तथा अप्रामाण्य का ज्ञान प्रवृत्ति विसवाद द्वारा होता है। पहले हमें प्रामाण्य द्वारा घट, पट आदि विषयों का ज्ञान होता है। इस ज्ञान के पश्चात् हम उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए प्रवृत्त होते हैं। प्रवृत्त होने पर हमारी यह प्रवृत्ति यदि सफल हो जाती है अर्थात् हमें उस वस्तु की प्राप्ति हो जाती है तो उस ज्ञान को प्रवृत्ति सामर्थ्य के कारण प्रमा रूप जाना जाता है तथा यदि प्रवृत्ति असफल हो जाती है तो प्रवृत्ति विसंवाद के कारण वह ज्ञान अयथार्थ या भ्रम रूप सिद्ध होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि न्याय मे प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का ग्रहण तो प्रवृत्ति-साफल्य तथा वैफल्य-मूलक अनुमान से होता है जबकि ज्ञान का ग्रहण अनुव्यवसाय से होता है और इसलिए ज्ञप्ति की दृष्टि से भी न्याय में परतः प्रामाण्य तथा अप्रामाण्यवाद स्वीकार किया गया है।

सामान्यतया प्रवृत्ति मे सफलता के पश्चात् उस ज्ञान का प्रामाण्यीकरण हो जाता है तथा उसके सत्य होने में कोई सशय नही रह जाता, फिर भी यदि सन्देह हो जाए तो उस विषय के अन्य अनुभवों से संवाद (ज्ञानान्तर संवाद) के द्वारा उसके प्रामाण्य का निश्चय कर संशय दूर किया जा सकता है। पानी को पी लेने पर जब प्यास बुझ जाती है तब उसके पानी होने में संशय नही रहता फिर भी उसे छूकर उससे स्नान करके आदि अन्य परीक्षणों द्वारा इस ज्ञान का प्रामाण्य निश्चय किया जा सकता है। इस पर यह कहा जा सकता है कि स्वप्न में भी स्वप्न का पानी स्वप्न की प्यास शांत करता है तथा छूने पर वह वैसी ही संवेदना उत्पन्न करता है जैसी पानी द्वारा होती है। किन्तु स्वप्न में हमें कभी भी यह ज्ञान नहीं होता कि हम स्वप्न देख रहे हैं जब कि जागृत मे हमे अपने जागे हुए होने का स्पष्ट ज्ञान होता है तथा विचार कर हम यह निश्चय कर सकते हैं कि हमारा यह ज्ञान स्वप्न का नहीं जाग्रत अवस्था का है।

इसी प्रकार, न्याय तथा बौद्ध ज्ञान के करण की परीक्षा द्वारा भी प्रामाण्य की स्थापना को सम्भव मानते हैं। जब हमें कोई ज्ञान हो रहा है तब वह सत्य है अथवा मिथ्या इसका निर्णय हमारी इन्द्रियां स्वस्थ है, प्रकाश सामान्य है, बहुत पास या बहुत दूरी से हम उसे नही देख रहे हैं, हमारा मन स्वस्थ है आदि गुणवत् कारण ज्ञान से ज्ञान के प्रामाण्य का परीक्षण होता है। किन्तु फिर भी इन सब में प्रवृत्ति की सफलता की ही प्रधानता है। अन्य अनुभवो से सवाद तथा ज्ञान करण परीक्षण सहयोगी हैं।

अपने पक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हुए उदयन[1] कहते हैं कि यदि प्रामाण्य तथा ज्ञान की उत्पत्ति के एक ही कारण हों तो अप्रमा में भी प्रामाण्य की उत्पत्ति हो जानी

1. मोहन्ती : गंगेश थ्योरी ऑफ ट्रुथ पृ० 48।

चाहिए थी क्योंकि अप्रमा भी ज्ञान तो है ही। ज्ञप्ति की दृष्टि से अपने परतः प्रामाण्य के पक्ष में गंगेश[1] कहते हैं कि यदि किसी ज्ञान के साथ उसका प्रामाण्य भी ज्ञात हो जाता हो तो उसके तुरन्त ही बाद उसमें संशय असम्भव होना चाहिए था जैसा कि अनेक बार होता है।

परतः प्रामाण्यवादियों का कथन है कि केवल ज्ञान होने मात्र से उसका प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता। चांदी का ज्ञान कभी चांदी की उपस्थिति में होता है तथा कभी चांदी के अभाव में। कई बार सीपी से भी चांदी का ज्ञान हमें हो जाता है। इसलिए यह कहना अनुचित है कि चूँकि हमें चांदी का ज्ञान हो रहा है अतः वहाँ चांदी होनी चाहिए तथा हमारा ज्ञान प्रामाण्य रूप है।[2]

इसी प्रकार, वे कहते हैं कि यदि ज्ञान में प्रामाण्य स्वतः होता तो स्वप्न ज्ञान में भी प्रामाण्य होना चाहिए था।

परतः प्रामाण्यवाद के विरुद्ध सबसे प्रबल आपत्ति उसमें अनवस्था दोष होने की है। जब कोई ज्ञान उत्पन्न होता है तो प्रवृत्ति साफल्यमूलक अनुमान के द्वारा उसका प्रामाण्य सिद्ध होता है। किन्तु यहाँ पर प्रश्न उठता है कि स्वयं अनुमान का प्रामाण्य कैसे सिद्ध होता है? उनके सिद्धान्त के अनुसार अनुमान को परतः प्रामाण्य मानकर किसी दूसरे अनुमान द्वारा उसका प्रामाण्य ज्ञात मानने से अनवस्था दोष उत्पन्न होता है। दूसरी कठिनाई फलज्ञान को लेकर उत्पन्न होती है। ज्ञान का प्रामाण्य उसकी फल प्राप्ति से होता है। यदि इस फल की प्राप्ति हो जाय तो वह प्रमा रूप तथा फल की अप्राप्ति पर वह भ्रम रूप ज्ञात होता है। किन्तु प्रश्न है कि फल प्राप्ति ज्ञान का प्रामाण्य कैसे होता है? जब हमें जल की उपस्थिति का ज्ञान होता है तो उसे पीकर उसके फल के ज्ञान द्वारा यह ज्ञात होता है कि जल का वह ज्ञान प्रामाण्य रूप है क्योंकि पीने से उसका स्वाद वैसा ही है जैसा जल का होता है, तथा उससे हमारी प्यास भी शान्त हो गई। किन्तु फिर भी यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि हमें जो स्वाद आया तथा जो प्यास शान्त हुई वह वास्तव में हुई अथवा नहीं? यदि इस फल ज्ञान का प्रामाण्य अन्य ज्ञान से प्रामाण्यीकृत मानें तो अनवस्था दोष होगा। ऐसा न मानने पर न्याय के परतः प्रामाण्य की असिद्धि होगी। इसी प्रकार, धर्मीज्ञान तथा अनुव्यवसाय को भी परतः मानने पर अनवस्था दोष होता है। न्याय के अनुसार धर्म तथा धर्मी के भेद को स्वीकार किया गया है। जब हम 'यह चांदी है' यह ज्ञान प्राप्त करते हैं तो इसमें 'यह' धर्मी का ज्ञान है तथा 'चांदी' धर्म का। इस ज्ञान में भ्रम की सम्भावना चांदी को लेकर ही है। 'यह' को लेकर किसी भ्रम की सम्भावना नहीं है।

1. वही, पृ० 49।
2. श्लोकवार्तिक 2, 38–45।

यदि धर्मी ज्ञान को भी परतः स्वीकार करेंगे तब प्रश्न उठेगा कि जिन धर्मों के द्वारा हम उस धर्मी का ज्ञान प्राप्त करते हैं उन धर्मों का फिर धर्मी स्थापित करना पड़ेगा तथा इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। इसी प्रकार, अनुव्यवसाय को परतः मानने पर भी अनवस्था दोष उत्पन्न होता है। न्याय में ज्ञान का ज्ञान स्वतः नहीं बल्कि अन्य ज्ञान में अनुव्यवसाय द्वारा माना गया है। अनुव्यवसाय स्वयं ज्ञान है तथा इसको भी परतः अन्य अनुव्यवसाय के द्वारा प्रमाणित मानने पर अनवस्था दोष होगा। साथ ही, एक अन्य कठिनाई अभ्यासजन्य ज्ञान को लेकर है। मेरे सामने गिलास रक्खा है तथा इसके ज्ञान के विषय में मुझे तनिक भी संशय नहीं होता। मैं कभी भी इस बात की आवश्यकता नहीं समझता कि इसका प्रामाण्यीकरण किसी अन्य ज्ञान के द्वारा किया जाना चाहिए। यह स्थिति ऐसी है जिसमें नैयायिक स्वयं भी स्वतः प्रामाण्य को मानने के लिए बाध्य होते हैं।

पहले हम अनुमान के विषय में विचार करते हैं। वाचस्पति मिश्र स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि अनुमान का ज्ञान प्रारम्भ से ही प्रमा रूप होता है।[1] अनुमान का आधार व्याप्ति ज्ञान होता है तथा व्याप्ति ज्ञान उस ज्ञान को कहते हैं जिसमें हेतु तथा साध्य के नित्य साहचर्य का निश्चित रूप से हमें ज्ञान होता है। उनकी मान्यता है कि यदि व्याप्ति ज्ञान का निश्चित रूप से प्रमा रूप ज्ञान हो तथा उसके आधार पर हम अनुमान लगायें तब उसमें संशय के लिए कोई स्थान नहीं रहता। उदयन[2] इस विषय मे इतने विश्वास के साथ दृढ़ कथन नहीं करते। उनका विचार है कि अनुमान कभी स्वतः तथा कभी परतः प्रामाण्य होता है। किन्तु नव्य न्याय[3] अनुमान के विषय में भी अपने सामान्य सिद्धान्त को नहीं छोड़ना चाहते। उनकी मान्यता है कि अनुमान मे भी संशय के लिए सदैव स्थान बना ही रहता है।

सामान्यतय न्याय अनुमान को प्रामाण्य रूप ही स्वीकार करते हैं। यद्यपि उन्होंने अनुमान के अनेक दोष स्वीकार किए हैं जिन्हें हेत्वाभास कहते हैं तथा ये हेत्वाभास अनुमान को दुष्ट करते हैं किन्तु इस सन्दर्भ में उनका कहना है कि वास्तव में अनुमान वही स्वीकार किया जाना चाहिए जहाँ हेतु हो। जहाँ हेत्वाभास से अनुमान दुष्ट होता है वहाँ उसे अनुमान भी कहना उचित नहीं है क्योंकि हेत्वाभास हेतु न होकर उसका आभास मात्र होता है अतः वह अनुमान का प्रतिबन्धक होता है। यदि न्याय के इस तर्क को मान भी लिया जाय तब भी एक दूसरी कठिनाई अनुमान को स्वतः प्रामाण्य मानने में रहती है तथा यह कहा जा सकता है कि जिस व्याप्ति ज्ञान के आधार पर अनुमान लगाया जा रहा है सम्भव है कि वह व्याप्ति ही अप्रमा

1. न्याय दर्शन पृ० 9।
2. परिशुद्धि पृ० 113।
3. मोहन्ती : गगेशज थ्योरी ऑफ ट्रुथ पृ० 49।

रूप हो। इस प्रकार व्याप्ति ज्ञान में संशय उत्पन्न होने पर समस्त अनुमान निश्चित रूप से संशय युक्त हो जायेगा तथा इसलिए, इसकी अन्य ज्ञान के द्वारा प्रामाण्यीकरण की आवश्यकता होगी। इस पर वाचस्पति मिश्र कह सकते हैं कि इस प्रकार के संशययुक्त व्याप्ति ज्ञान से भी अनुमान फलित नहीं हो सकेगा। अनुमान का आधार व्याप्तिज्ञान के प्रमात्व में विश्वास होता है तथा यदि इस व्याप्ति में हमें संशय होगा तो इससे हम अनुमान नहीं लगा सकेंगे। इस प्रकार वाचस्पति मिश्र ठीक ही कहते हैं कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनुमान निश्चित रूप से स्वतः प्रामाण्य होता है तथा उसके ज्ञान के समय उसकी सत्यता मे हमें संशय नहीं होता। किन्तु नव्य नैयायिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि न अपना कर तार्किक दृष्टि से बात कर रहे हैं। वे इस बात को स्वीकार भी कर लें कि यद्यपि अनुमान के समय हमें उसे प्रामाण्य रूप होने में कोई संशय नहीं होता, तब भी उनके अनुसार इस बात की कोई प्रत्याभूति नहीं है कि वह ज्ञान निश्चित रूप से सत्य ही होगा। उसके मिथ्या होने की सम्भावना सदैव बनी रहती है। इस बात को मीमांसक आदि स्वतः प्रामाण्यवादी भी अस्वीकार नहीं करते। वे यह मानते हैं कि जो ज्ञान प्रारम्भ मे हमें प्रमा रूप ज्ञान होता है भविष्य में वह अप्रामाण्य रूप सिद्ध हो सकता है। अतः इस दृष्टि से न्याय का मीमांसा से मतैक्य है ही।

इसी प्रकार, वाचस्पति मिश्र के अनुसार फल ज्ञान में भी अन्य ज्ञान के द्वारा प्रामाण्यीकरण की आवश्यकता नहीं होती है।[1] इसका कारण बतलाते हुए वे कहते हैं कि अभ्यास दशापन्न होने से तज्जातीयत्व हेतु के माध्यम से फल ज्ञान के विषय में कोई व्यक्ति संशय नहीं करता।[2] उदाहरण के लिए, जब पानी पीने से हमारी प्यास शांत हो जाती है तो हम जानते हैं कि तृषा शांति हमारा सुपरिचित अर्थात् अभ्यास दशाजन्य ज्ञान है। इसका हमें पहले भी कई बार ज्ञान हो चुका है तथा इस समय की तृषा शांति का यह अनुभव हमारे पहले के तृषा शांति के ज्ञान की कोटि का ही है। इस प्रकार, यह ज्ञान अभ्यासदशापन्न होने से स्वतः प्रामाण्य सिद्ध होता है।

किन्तु यहाँ पर फल ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य अपने आप से सिद्ध न किया जा कर अभ्यास दशापन्न ज्ञान के माध्यम से किया गया है। अतः फल ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य के परीक्षण के लिए अभ्यासदशापन्न ज्ञान की परीक्षा करनी उचित होगी।

अभ्यास दशापन्न ज्ञान को स्वतः प्रामाण्य मानने मे अनेक कठिनाइयाँ हैं। सर्व-प्रथम तो यही एक समस्या है कि किस ज्ञान को अभ्यास दशापन्न ज्ञान कहें। क्या यह कहा जाय कि जहाँ संशय न हो वहाँ अभ्यास दशापन्न ज्ञान कहा जायेगा। किन्तु यह

1. न च, फलज्ञानम् परीक्ष्यते निष्प्रवृत्तिः (न्याय दर्शन पृष्ठ 9)
2. यत्तु पुनः फलज्ञानमत्र अभ्यास दशापन्नतया तज्जातीयत्वेन लिंगेन अव्यभिचारिणा अवधारितप्रामाण्यमेव। न्याय दर्शन पृष्ठ 9

परिभाषा अन्योन्याश्रयत्व से दूषित है। जहाँ ज्ञान में संशय न हो वह अभ्यासदशापन्न ज्ञान होगा तथा अभ्यासदशापन्न ज्ञान वह है जिसमें संशय न हो। दूसरे अभ्यास से यह अर्थ निकलता है कि जो ज्ञान हमें कई बार प्राप्त हो चुका है वह अभ्यासदशापन्न ज्ञान होगा। किन्तु यहाँ पर भी यह प्रश्न उठता है कि कितनी बार इस ज्ञान की पुनरावृत्ति से यह ज्ञान अभ्यासदशापन्न की कोटि में आ सकेगा। निश्चित ही न्याय दार्शनिक इसका कोई उत्तर नहीं दे पाते। जैसा कि हम कह चुके हैं, यह भी माना गया है कि अभ्यास से ज्ञान में तज्जातीयत्व का ज्ञान होता है तथा इससे तुरन्त उस प्रकार के ज्ञान की भाँति इसके भी प्रमा रूप होने का अनुमान लगा लिया जाता है। किन्तु यहाँ पर फिर प्रश्न उठेगा कि यह तज्जातीयत्व का ज्ञान क्या वास्तव में स्वतः प्रामाण्य सिद्ध हो सकता है। तज्जातीयत्व का आधार उस ज्ञान की उस प्रकार के पूर्व ज्ञानों के साथ समानता है। किन्तु इस समानता को जानने के लिए पहले इस विषय का निश्चित ज्ञान आवश्यक है। जिन पदार्थों में हम समानता ढूँढ रहे हैं उनका ज्ञान ही यदि नहीं होगा तो उसमें समानता का ज्ञान कैसे सम्भव होगा। इस प्रकार यहाँ पर जिस ज्ञान का प्रामाण्य हम जानना चाहते हैं उसका प्रामाण्य पहले से ही स्वीकार कर लिया गया है।

उदयन[1] इन कठिनाइयों के कारण ही अभ्यासदशापन्न ज्ञान को अन्य प्रकार से सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। उनका कहना है कि ज्ञान के विषय के कुछ-न-कुछ विशेषण अवश्य होते हैं। उदाहरण के लिए शरीर वह होता है जिसमें हाथ-पैर आदि होते हैं, तथा इन हाथ-पैर आदि के ज्ञान से ही उनके शरीर ज्ञान होने का प्रामाण्य सिद्ध होता है। गंगेश भी इस सम्बन्ध में इसी उदाहरण के द्वारा अपने तात्पर्य को स्पष्ट करते हैं।[2] किन्तु इस प्रकार का ज्ञान तज्जातीयत्व के आधार पर अनुमित ज्ञान नहीं स्वीकार किया जा सकता। तथा यदि इस ज्ञान को अनुमित ज्ञान मान भी लिया जाय तो यह अन्य ज्ञानों से जो अभ्यासदशापन्न नहीं हैं, भिन्न नहीं माना जा सकता। जो ज्ञान अभ्यासदशापन्न नहीं हैं उनमें भी विषय के कुछ लक्षणों के द्वारा ही उस विषय के उसी रूप होने का हम अनुमान करते हैं। उदाहरण के लिए जब किसी पशु के गधा या जेब्रा होने के विषय में हमें संशय होता है तो हम अनुमान करते हैं कि जेब्रा के शरीर पर धारियाँ होती हैं, इस पशु के शरीर पर भी धारियाँ हैं, अतः यह जेब्रा है।

धर्मी ज्ञान के विषय में वास्तव में कोई समस्या नहीं उठती। धर्मी ज्ञान स्वयं में पूर्ण ज्ञान नहीं है। यह ज्ञान का उद्देश्य मात्र है। कभी भी सविकल्पक रूप से 'यह' का ज्ञान प्राप्त नहीं होता बल्कि 'यह क है' इस रूप में होता है। न्याय अनुमान से

1 परिशुद्धि पृष्ठ 105
2. प्रामाण्यवाद पृ. 50

धर्मी ज्ञान की निर्विकल्पक रूप में सत्ता अवश्य स्वीकार करते हैं, किन्तु स्पष्ट रूप से हमारी अनुभूति का विषय उसे कभी भी स्वीकार नहीं किया गया है। चूंकि धर्मी ज्ञान अकेला होता ही नहीं है अतः उसके प्रामाण्य का प्रश्न ही क्या उठता है ? यदि इस ज्ञान की वास्तविकता मान भी लें तो यह ज्ञान 'यह है' इस रूप में पुनरुक्ति मात्र होगा तथा पुनरुक्ति वाले ज्ञान में प्रामाण्य का प्रश्न नहीं उठता।

वाचस्पति तथा उदयन[1] दोनों इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि अनुव्यवसाय में संशय की कभी कोई गुंजायश नहीं होती। "कोई भी व्यक्ति जिसे ज्ञान हो रहा है, इस प्रकार से नहीं सोचता कि उसे ज्ञान नहीं हो रहा है तथा कोई भी व्यक्ति जिसे सीपी का ज्ञान हो रहा है यह नहीं सोचता कि उसे चाँदी का ज्ञान हो रहा है" किन्तु नैयायिकों का अनुव्यवसाय के विषय में इस स्वत. प्रामाण्य में विश्वास के लिए विशेष प्रबल तर्क नहीं है। ज्ञान को स्वतः प्रकाश मानने पर तो यह कहा जा सकता है कि उसमें भ्रम तथा संशय के लिए कोई स्थान नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर इसमें आत्म-विरोध होगा। किन्तु जब इस ज्ञान का ज्ञान अन्य ज्ञान में अनुव्यवसाय के द्वारा माना जाता है तब अन्य ज्ञानों की भाँति इसमें भी भ्रम की गुंजायश रहती ही है। ऐसी अवस्था में ज्ञान तथा अनुव्यवसाय को एक ही समय में घटित मानना सम्भव न होने से स्मृति आदि के दोष की सम्भावना बनी रहती है।

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जो वस्तु सामने है उसका प्रामाण्य प्रवृत्ति साफल्य के द्वारा संभव होने पर भी दूरस्थ पदार्थों के ज्ञान का प्रामाण्य कैसे सिद्ध होगा ? न्याय इसका उत्तर देते हुए कहता है कि ईश्वर आदि के इस प्रकार के ज्ञान का प्रामाण्यीकरण परोक्ष रूप से होता है। यदि ईश्वर की सत्ता हो तो उसका कुछ परिणाम होना चाहिए तथा उस परिणाम का परीक्षण कर ईश्वर की सत्ता सिद्ध की जा सकती है। शांतरक्षित की मान्यता है कि दूरस्थ विषय के ज्ञान का प्रामाण्य जिस करण से हम ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं उसकी दोष रहितता सिद्ध करने से हो सकता है।[2]

परतः प्रामाण्यवाद के अनुसार एक ज्ञान का प्रामाण्य दूसरे ज्ञान के द्वारा सिद्ध किया जाता है, किन्तु इस पर प्रश्न किया जा सकता है कि दूसरे ज्ञान में ऐसी क्या विशेषता होती है कि यह प्रथम ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध कर सकता है ? सामान्यतया सभी ज्ञान समान रूप से प्रामाण्ययुक्त अथवा अप्रामाण्ययुक्त होते हैं तथा इस दृष्टि से इसमें अनवस्था दोष होगा तथा किसी भी ज्ञान का प्रामाण्य कभी भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। इसका उत्तर देते हुए परतः प्रामाण्यवादी कहते हैं[3] कि ज्ञान में हमारी

1. परिशुद्धि पृष्ठ 117।
2. तत्त्व संग्रह कारिका 2987–90
3. कमलशील : तत्त्व संग्रह की कारिका 2959–62 पर टीका

प्रवृत्ति सदैव किसी प्रयोजन को लेकर होती है। 'यह जल है' इस ज्ञान का प्रामाण्य हम इसलिए जानना चाहते हैं कि इससे हमारी इच्छा पूर्ति (स्नान, तृषा शांति आदि) का सीधा सम्बन्ध है। जल ज्ञान के ग्रहण के पश्चात् हम तत्सम्बन्धी प्रवृत्ति में अग्रसर होते हैं। यदि उस ज्ञान के फलस्वरूप हमारा प्रयोजन पूर्ण हो जाता है तो वह ज्ञान प्रामाण्य रूप माना जाता है तथा इससे आगे जाने की न तो हमें प्रवृत्ति ही होती है और न इससे आगे जाने की आवश्यकता ही है। हमारे प्रयोजन की पूर्ति स्वयं अपना प्रामाण्य है। प्यास शांत करने के लिए हम जल ग्रहण में प्रवृत्त हुए थे तथा जब उस जल को पीकर हमारी तृषा शांत हो गई तो ज्ञान की यह प्रक्रिया यहीं पर शांत हो जाती है। गंगेश[1] का कथन है कि यदि हम इस बात को मान भी लें कि द्वितीय ज्ञान का प्रामाण्यीकरण अभी होना अवशेष है तब भी कोई कठिनाई नहीं है। उनका कहना है कि एक ज्ञान स्वयं अपने प्रामाण्य के लिए अन्य ज्ञान को अपेक्षा रखते हुए भी किसी अन्य ज्ञान को प्रमाणित कर सकता है। शांतरक्षित का कहना है कि प्रथम ज्ञान में वह ज्ञान जिन कारणों से उत्पन्न हुआ है उसकी भली प्रकार परीक्षा नहीं की हुई होती है तथा इससे उसमें कुछ दोष की संभावना रह जाती है, किन्तु इसके पश्चात् दूसरे ज्ञान में इन कारणों का भली प्रकार परीक्षण कर लेने के कारण वह निश्चित रूप से प्रथम ज्ञान को अधिक प्रबलता देता है। कारण दोष रहितता की चर्चा स्वतः प्रामाण्यवादी भी करते हैं किन्तु परतः प्रामाण्यवादी इस तर्क को अपने पक्ष में मानते हैं। वे कहते हैं कि पहले हमें कोई ज्ञान होता है। फिर किसी दूसरे ज्ञान के द्वारा हम उस प्रथम ज्ञान के कारणों का परीक्षण करते हैं तथा इस प्रकार इस दूसरे ज्ञान से प्रथम ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध होने के कारण वह परतः ही है।

अनवस्था दोष का उत्तर देते हुए शांतरक्षित तथा कमलशील कहते हैं कि वास्तव में यह प्रश्न प्रामाण्य की भ्रांत धारणा स्वीकार कर लेने से उत्पन्न होता है। यदि हम प्रामाण्य का अर्थ ज्ञान तथा बाह्य जगत में सामञ्जस्य स्थापित करना समझें तब निश्चित ही प्रामाण्यीकरण में अनवस्था दोष उत्पन्न होगा तथा उसका निराकरण असम्भव होगा। किन्तु ज्ञान का वास्तविक अर्थ विषय विशेष की ओर संकेत करना है। ज्ञान न तो मनुष्य को उस स्थान पर ले जाता है जहाँ पर वह विषय है और न ही विषय को ज्ञाता के पास उठा कर लाता है। ज्ञान में विषय का यह संकेत ज्ञाता में क्रिया की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है तथा उस क्रिया की सफलता ही उस विषय की प्राप्ति तथा ज्ञान का प्रामाण्य होता है। विषय की प्राप्ति हो जाने से हमारी वह इच्छा पूर्ण हो जाती है तथा फिर किसी अन्य क्रिया का जन्म नहीं होता। इस प्रकार, प्रामाण्यीकरण की यह शृंखला यहीं पर समाप्त हो जाती है और इसमें अनवस्था

1. तत्वचिंतामणि, प्रामाण्यवाद

दोष के लिए कोई स्थान नहीं है जब कि प्रामाण्य को ज्ञान तथा विषय में सामञ्जस्य के अर्थ में लेने पर प्रामाण्यीकरण करने वाले ज्ञान में तथा बाह्य जगत में स्थित विषय में दूरी ज्यों की त्यों बनी रहती है। जिस ज्ञान से प्रथम ज्ञान का प्रामाण्यीकरण किया जाता है उस ज्ञान के विषय में भी फिर से वही प्रश्न पूछा जा सकता है कि उस ज्ञान का भी बाह्य विषय से सामञ्जस्य है अथवा नहीं तथा यह शृंखला अनन्त काल तक चला करेगी।[1]

परतः प्रामाण्यवाद की आलोचना में यह कहा जा सकता है कि संशय से किसी भी क्रिया की प्रवृत्ति संभव नहीं है। जब तक हमें यह विश्वास नहीं होता कि यह पानी ही है, हम उसे पीने के लिए प्रवृत्त नहीं होते। इस पर न्याय तथा बौद्ध दोनों का उत्तर है कि यह आपत्ति ठीक नहीं है। क्रिया में प्रवृत्ति के लिए उस ज्ञान में सत्य होने के विश्वास की तनिक भी आवश्यकता नहीं है। यह बात इस तथ्य से भी प्रमाणित होती है कि कई बार हम किसी ज्ञान की परीक्षा के लिए ही प्रवृत्त होते हैं। धुंधले प्रकाश में किसी काली-सी वस्तु को देखकर हमारे मन में विकल्प उत्पन्न होता है कि यह रस्सी है अथवा सर्प तथा इस ज्ञान के परीक्षण के लिए बांस से उसे छूकर हम उसकी परीक्षा करते हैं।[2]

यह भी कहा गया है कि परतः प्रामाण्यवाद में अन्योन्याश्रय का दोष है।[3] इस सिद्धांत के अनुसार प्रवृत्ति की सफलता ज्ञान के प्रमा रूप होने पर निर्भर है, किन्तु प्रामाण्य का स्वयं का निर्णय प्रवृत्ति की सफलता से किया जाता है। यह आपत्ति भी ठीक नहीं है। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, न्याय यह मानता है कि जब हमें कोई ज्ञान होता है तो उसके प्रामाण्य के विषय में निश्चय नहीं होता। संशय की अवस्था में ही क्रिया में प्रवृत्ति होती है तथा उसमें सफलता के द्वारा उसके प्रामाण्य की सिद्धि होती है।

कुमारिल[4] न्याय मत की आलोचना करते हुए कहते हैं कि यदि ज्ञान में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य परतः ज्ञानकरण के अतिरिक्त गुण तथा दोष के कारण उत्पन्न मानेंगे तो इसका अर्थ होगा कि ज्ञान मूल रूप में अपने स्वयं के कारणों से निःस्वभाव उत्पन्न होता है। किन्तु ऐसी कल्पना करना कि कोई भी ज्ञान इस प्रकार का हो सकता है जो न सत्य ही हो और न असत्य ही, असंगत है। कोई भी ज्ञान किसी भी समय सत्य अथवा असत्य में से एक अवश्य होता है। इस पर न्याय यह कह सकता है कि ऐसा नहीं है कि ज्ञान पहले क्षण निःस्वभाव उत्पन्न होता है तथा उसके गुण-दोष उसे बाद में

1. तत्त्व संग्रह कारिका 2959-62 तथा 2973
2. शांतरक्षित : तत्त्व संग्रह कारिका 2974-75
3. वही, कारिका 2974
4. श्लोक वार्तिक 2.35-36

प्रमा तथा अप्रमा रूप बनाते हैं वरन् वास्तव में यह गुण-दोष ज्ञान करण में ही समवाय रूप से प्रारम्भ से ही रहते हैं और इसलिए प्रारम्भ से ही कोई भी ज्ञान या तो प्रमारूप होता है या अप्रमा रूप। फिर भी न तो गुण ही और न दोष ही ज्ञानकरण के अपने स्वरूप का अंग होते हैं। गुण तथा दोष ज्ञानकरण में आकस्मिक रूप से ही विद्यमान होते हैं और इसलिए उन्हें बाह्य माना जाता है। किन्तु इस पर कुमारिल कह सकते हैं कि गुण तथा दोषों को आकस्मिक मान लेने पर यह फलित होता है कि इनके बिना भी उन कारणों का अस्तित्व रह सकता है अतः यद्यपि सामान्यतया इनकी उपस्थिति इनके साथ मानी जाती है, इस दृष्टि से निःस्वभाव ज्ञान की सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता किन्तु कुमारिल का यह तर्क प्रबल नहीं है। किसी भी वस्त्र में कोई भी रंग हो सकता है तथा इस दृष्टि से काला या पीला या नीला रंग उस वस्त्र का स्वरूप नहीं माना जा सकता। वह उसके लिए बाह्य है किन्तु, इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि कभी कोई वस्त्र रंगहीन भी उत्पन्न हो सकता है। इसी प्रकार न्याय कह सकता था कि ज्ञान करण में गुण या दोष में से एक होना आवश्यक है।

बौद्धों के परतः प्रामाण्यवाद की आलोचना करते हुए पार्थसारथी[1] कहते हैं कि यदि गुणों के कारण ज्ञान में प्रामाण्य उत्पन्न होता है तो गुण के अभाव में जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें सत्य का तनिक भी अंश नहीं होना चाहिए। किन्तु हम देखते हैं कि पाण्डुरोग के कारण जब सफेद वस्तु पीली नजर आती है तब उसका आकार आदि का ज्ञान तो प्रमा रूप ही होता है। इसलिए बौद्धों का मत ठीक नहीं है।

प्रवृत्ति सामर्थ्य द्वारा प्रामाण्य की सिद्धि के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए पार्थसारथी[2] कहते हैं विषय के ज्ञान से प्रवृत्ति की सफलता का ज्ञान भिन्न है। 'यह घट है' यह एक ज्ञान है तथा 'मैं घट में पानी लाता हूँ' यह दूसरा ज्ञान है। प्रथम ज्ञान का विषय तथा दूसरे ज्ञान का विषय भिन्न-भिन्न है फिर ऐसी अवस्था में यह दूसरा ज्ञान इस प्रथम ज्ञान का प्रामाण्य कैसे सिद्ध कर सकता है? शांत रक्षित ने कहा कि प्रवृत्ति सामर्थ्य से जो सुख की उपलब्धि होती है उससे पहले प्रवृत्ति सामर्थ्य की सिद्धि होती है तथा फिर इससे उस विषय की सिद्धि होती है क्योंकि सुख की उपलब्धि प्रवृत्ति सामर्थ्य के अभाव में कभी नहीं पायी जाती तथा न ही प्रवृत्ति सामर्थ्य के विषय के अभाव में संभव है। किन्तु पार्थसारथी तर्क करते हैं कि स्वप्न में सुख की उपलब्धि वास्तविक प्रवृत्ति सामर्थ्य के बिना ही होती है तथा वहाँ प्रवृत्ति सामर्थ्य भी बिना विषय के उपस्थित हुए ही होता है अतः बौद्ध तर्क ठीक नहीं है।

1. न्याय रत्नाकर, श्लोक वार्तिक 2. 47-48 पर टीका
2. न्याय रत्नमाला पृष्ठ 37

इसी प्रकार ज्ञानान्तर संवाद के द्वारा जो प्रामाण्य की परत: सिद्धि मानी गई है उसकी आलोचना करते हुए कुमारिल[1] कहते हैं कि यह संवाद या तो दो सजातीय ज्ञान में हो सकता है या विजातीय ज्ञान में। घट के ज्ञान का प्रामाण्य जब मैं बाद में बार-बार स्पर्श करके, या अन्य लोगों के ज्ञान से उसकी पुष्टि करके करता हूँ तो वह सजातीय संवाद होता है तथा जब मैं घट ज्ञान का प्रामाण्य अन्य-अन्य इन्द्रियों द्वारा या अन्य प्रकार के ज्ञान के द्वारा करता हूँ तो वह विजातीय संवाद कहलाता है। किन्तु इसमें भी वास्तव में अनवस्था दोष का निवारण नहीं होता है तथा इस सिद्धांत से इस ज्ञान का अप्रामाण्य यथावत् बना रहता है। जहाँ तक बाद के सजातीय ज्ञान का प्रश्न है वे भी स्वत: प्रामाण्य न होने से वैसे ही अप्रामाण्य रूप होते हैं जैसा प्रथम ज्ञान था। विजातीय ज्ञान उस विषय के भिन्न-भिन्न पहलुओं का ज्ञान करवाते हैं तथा एक पहलू का ज्ञान दूसरे ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध नहीं कर सकता। तथा इसलिए इनमें वास्तविक संवाद नहीं हो सकता। किसी वस्तु के रंग का ज्ञान उसके आकार के ज्ञान की पुष्टि कैसे कर सकता है ?

आगे पार्थसारथी[2] कहते हैं कि यदि प्रामाण्य को प्रवृत्ति सामर्थ्य से अनुमान के द्वारा सिद्ध मानें तो अनुमान का आधार व्याप्ति होने से पहले उसकी स्थापना करनी होगी। इस व्याप्ति की स्थापना के लिए हमें पहले स्वतन्त्र रूप से यह ज्ञान प्राप्त करना होगा कि जहाँ प्रवृत्ति सफलता होती है वहाँ प्रामाण्य होता है। तथा जब इस ज्ञान का प्रामाण्य प्रवृत्ति सामर्थ्य के बिना हो सकता है तब अन्य ज्ञान का क्यों नहीं हो सकता ?

बौद्ध दार्शनिकों का प्रामाण्य के परत: होने के सम्बन्ध में मतैक्य होने पर भी अप्रामाण्य को लेकर उनसे मतभेद है। न्याय अप्रामाण्य को भी प्रामाण्य की भाँति ही परत: मानते हैं। उनके अनुसार गुण तथा दोष दोनों भावात्मक हैं तथा ज्ञान में परत: है। उनका कहना है कि अप्रामाण्य प्रामाण्य का अभाव है। तथा इस प्रकार अवस्तु है। जिस प्रकार खरगोश के सींग जो अवस्तु हैं किसी भी कारण से उत्पन्न नहीं हो सकते उसी प्रकार अप्रामाण्य भी किसी भी कारण से उत्पन्न नहीं हो सकता अत: अकारण होने से यह स्वत: है।

बौद्ध इस प्रकार न्याय की भाँति दोष की उपस्थिति से अप्रामाण्य की उत्पत्ति नहीं मानते। वे कहते हैं कि जब ज्ञानकारण में दोष उपस्थित भी होते हैं तो वे वास्तव में ज्ञान में गुण को नष्ट करते हैं। जब हमें पाण्डुरोग के कारण वस्तुएँ पीली नजर आती हैं तो इस पीलिया से उत्पन्न दोष इस ज्ञान के अप्रामाण्य का कारण न होकर वास्तव में उस ज्ञान के करण के गुण को नष्ट करता है तथा इस प्रकार ज्ञान में

1. श्लोक वार्तिक 2,77-81
2. न्याय रत्नमाला पृष्ठ 37.

प्रामाण्य उत्पन्न नहीं हो पाता। इससे जो बात वे सिद्ध करना चाहते हैं वह यह है कि अप्रामाण्य तो ज्ञान में स्वत ही है, उसे दोष जैसे किसी आकस्मिक कारण की आवश्यकता नही होती क्योंकि अप्रामाण्य में दोष के कारण स्वीकार कर लेने पर वह भी प्रामाण्य की भाँति परत: हो जाता है।

मीमासक अन्वय तथा व्यतिरेक के द्वारा दोष का अप्रामाण्य में हेतुत्व सिद्ध करते हैं। वे कहते हैं कि जब दोष होता है तब ज्ञान मे अप्रामाण्य होता है तथा जब ज्ञान करण मे दोष का अभाव होता है तब ज्ञान मे अप्रामाण्य का अभाव होता है तथा वह प्रामाण्य रूप होता है। किन्तु बौद्ध कहते हैं कि जब अज्ञान के कारण किसी विषय के ज्ञान का अभाव होता है तब वहाँ विषय का ज्ञान उत्पन्न न होने से अप्रामाण्य की जो उत्पत्ति हो रही है उसका कारण दोष की उपस्थिति न होकर मात्र ज्ञान के कारण का अभाव है। अत: दोष से अप्रामाण्य की उत्पत्ति नही मानी जा सकती।[1]

बौद्धो की आलोचना करते हुए पार्थसारथी[2] का कथन है कि अप्रामाण्य प्रामाण्य का अभाव नही है जैसा कि वे सोचते हैं। बौद्ध अप्रामाण्य को निश्चय प्रागभाव के रूप में देखते हैं। यदि अप्रामाण्य निश्चय प्रागभाव होता तब बौद्धो का मत ठीक हो सकता था, किन्तु अप्रामाण्य वास्तव मे अभाव रूप न होकर भाव रूप है। वह निश्चय के पहले इसके अभाव की स्थिति नही है। अप्रामाण्य मे हमे भावात्मक ज्ञान होता है। जब हम सर्प की जंगल रस्सी देखते हैं तो रस्सी का ज्ञान निश्चय के पहले इसके अभाव की स्थिति नही है। वह सर्प की तरह ही भावात्मक ज्ञान है जो दोष के कारण उत्पन्न होता है। अज्ञान के विषय मे बौद्धों ने जो कहा है वह सही है, किन्तु वास्तव मे अज्ञान ज्ञान ही नही है अत: उसमें अप्रामाण्य का भी प्रश्न नही उठना चाहिए।

चिदानन्द[3] कहते हैं कि यदि ज्ञान मे अप्रामाण्य स्वत: हो तो बाद के ज्ञान के द्वारा जब हम किसी ज्ञान को अप्रामाण्य रूप सिद्ध करते हैं, उसकी व्याख्या नही हो सकती और न ही जब हमारा कोई ज्ञान भ्रम रूप सिद्ध होता है तो उससे उत्पन्न निराशा की व्याख्या होती है। यदि हम प्रारंभ से ही ज्ञान को अप्रामाण्य रूप मानते हैं तो बाद में यह प्रमाणित करने का क्या अर्थ है कि यह कथित वस्तु (चादी) नही है।

पार्थसारथी[4] का कहना है कि यदि ज्ञान मे अप्रामाण्य स्वत. है तब इस अप्रा-

1. कुमारिल श्लोक वार्तिक 2.38-45.
2. पार्थसारथी : न्याय रत्नमाला पृष्ठ 38
3. नीति तत्वाविर्भाव पृ 35
4. शास्त्र दीपिका पृष्ठ 22

माण्य का कभी भी अन्त नहीं हो सकता है। इस ज्ञान का प्रामाण्य जब हम किसी दूसरे ज्ञान से सिद्ध करने का प्रयास करेंगे तब वह ज्ञान भी स्वतः अप्रामाण्य रूप होगा तथा इसका निष्कर्ष पूर्ण संशयवाद होगा।

उत्पत्ति की दृष्टि से प्रामाण्य को गुण से परतः सिद्ध करने के लिए न्याय तर्क प्रस्तुत करता है कि यदि केवल दोष के अभाव से ही ज्ञान में प्रामाण्य की उत्पत्ति मानें तो जब शंख पीला प्रतीत होता है तब दोष के कारण यह समस्त ज्ञान अप्रमा ही होना चाहिए था क्योंकि इसमें चक्षु इन्द्रिय के दोष के कारण अप्रामाण्य की उत्पत्ति हुई है। किन्तु हम देखते हैं कि यह ज्ञान वास्तव में शंख दृष्टि से प्रामाण्य तथा रंग दृष्टि से अप्रामाण्य है। इसलिए हमें यह मानना होगा कि ज्ञान में गुण-दोष दोनों ही प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य के कारण रूप से भावात्मक हैं तथा गुण दोषाभाव मात्र नहीं है।

दूसरे, दोष तो अनन्त होते हैं तथा फिर प्रामाण्य की उत्पत्ति में हमें उन अनन्त दोषों के अभाव को कारण मानना पड़ेगा। अनन्त कारण को मानने से कुछ गुणों की उपस्थिति को उसका कारण मान लेना अधिक तर्कयुक्त है।

इस पर यदि मीमांसक कहें कि जब श्वेत शंख हमें पीला दृष्टिगत होता है तब गुण के कारण वह शंख रूप ज्ञात होता है तथा दोष के कारण पीला। अतः न्याय मात्र गुण की उपस्थिति से प्रामाण्य की स्थापना नहीं कर सकता। उसे साथ में दोषाभाव तो मानना ही होगा। गुण के साथ यदि दोष भी हुआ तो वह हमारे ज्ञान को अप्रामाण्य रूप सिद्ध कर देगा। किन्तु इस पर न्याय कह सकता है कि 'पीला शंख' ज्ञान दो विभिन्न दृष्टियों से भिन्न-भिन्न रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। शंख दृष्टि से यह प्रामाण्य रूप है जिसका कारण गुण है तथा रंग दृष्टि से अप्रामाण्य जिसका कारण दोष है।

मीमांसा की आलोचना करते हुए न्याय कहता है कि जब मीमांसक प्रामाण्य का कारण ज्ञान करण के साथ-साथ दोषाभाव भी मानते हैं तो उनका सिद्धांत भी इस दृष्टि से परतः ही हो जाता है। किन्तु इस पर मीमांसा का उत्तर होगा कि दोषाभाव निषेधात्मक कारण है। स्वतः सिद्धांत में हम मात्र यह प्रतिपादन करते हैं कि ज्ञान करण के साथ प्रामाण्य में अन्य कोई भावात्मक कारण नहीं होता। वे कहते हैं कि हम दोषाभाव को प्रामाण्य का कारण नहीं मानते। दोषाभाव के कारण ज्ञान में अप्रमा की संभावना का ही निरास होता है।

बातरहित तथा कमलशील मीमांसा तथा न्याय दोनों के सिद्धांतों की कठिनाइयों से परिचित हैं। वे भली प्रकार समझते हैं कि प्रामाण्य को लेकर एक सार्वभौम नियम की स्थापना संभव नहीं है। न तो यही कहा जा सकता है कि सभी प्रकार के ज्ञान प्रत्येक परिस्थिति में स्वतः प्रामाण्य हैं और न उन्हें परतः प्रामाण्य ही सिद्ध किया जा

सकता है। अतः उनका कहना है कि मीमांसा द्वारा प्रस्तुत किये गए चार विकल्प, जिनकी हमने इस अध्याय के प्रारम्भ में ही चर्चा की है पर्याप्त नहीं हैं। इन चारों से अतिरिक्त पाँचवा मत हमारा है।[1]

जहाँ तक उत्पत्ति की दृष्टि से प्रामाण्य का प्रश्न है ये स्पष्ट रूप से इसे स्वतः प्रामाण्य तथा स्वतः ही अप्रामाण्य मानते हैं। शांतरक्षित कहते हैं कि यदि मीमांसा का यह मत हो कि प्रमाणों की शक्ति उन्हीं कारणों से उत्पन्न होती है जिससे वे स्वयं उत्पन्न होते हैं तब उनके बीच कोई मतभेद नहीं है। कोई भी व्यक्ति यह नही मान सकता कि किसी अविभाजित वस्तु में उसकी शक्ति स्वयं के कारणों से स्वतः उत्पन्न न होकर, उसके उत्पन्न होने के पश्चात् किसी अन्य कारण द्वारा उसमें उत्पन्न की जाती है। यदि हम इस प्रकार शक्ति को बाह्य कारण से उत्पन्न मानेंगे तो यह शक्ति उस वस्तु से भिन्न वस्तु होगी, जब कि वास्तव मे वस्तु तथा उसकी शक्ति अभिन्न रूप हैं।[2]

अतः प्रश्न वास्तव में प्रामाण्य के उत्पन्न होने का न होकर उसकी ज्ञप्ति का है। शांतरक्षित कहते हैं कि इस विषय में कोई निश्चित नियम नहीं है। कमलशील शांतरक्षित के मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि योगज प्रत्यक्ष, अनुमान तथा अभ्यासदशापन्न ज्ञान मे प्रामाण्य स्वतः होता है जब कि वेद ज्ञान तथा अन्य सामान्य अवस्थाओं में ज्ञान परतः प्रामाण्य होता है।[3]

न्याय की भांति ही शांतरक्षित का कहना है कि केवल ज्ञान मात्र से किसी ज्ञान के प्रमा रूप अथवा अप्रमा रूप होने का निश्चय नहीं हो सकता है। कार्य की सफलता अथवा अन्य किसी बाह्य ज्ञान के द्वारा ही उसके प्रमा रूप होने का निश्चय हो सकता है। उदाहरणार्थ, कोई वस्तु विष है अथवा मदिरा अथवा अन्य कुछ इसका पता केवल देखने मात्र से नहीं लगाया जा सकता क्योंकि कई वस्तुएँ आपस में समान प्रतीत होती हैं। जब हमें उस वस्तु का प्रभाव नशे या बेहोशी आदि के रूप मे ज्ञात होता है तभी हम उस वस्तु के बारे मे निश्चित रूप से निर्णय कर सकते हैं।[4]

शांतरक्षित तथा कमलशील ने समस्या पर बड़े विस्तार से विचार किया है तथा सामान्य दशा में प्रामाण्य के परतः होने के लिए पर्याप्त तर्क दिए हैं। इन तर्कों मे से अधिकांश की चर्चा हम न्याय मत पर विचार करते समय कर चुके हैं।

जहाँ न्याय अभ्यासदशापन्न ज्ञान के स्वतः अथवा परतः प्रामाण्य होने के विषय

1. तत्व संग्रह कारिका 3123
2. कारिका 2827–29
3. तत्व संग्रह कारिका 2945
4. कारिका 2838–39

में इतने स्पष्ट नहीं हैं तथा कुछ नैयायिक इसे तज्जातीयत्व के माध्यम से अनुमित सिद्ध करने का भी प्रयास करते हैं, शान्तरक्षित तथा कमलशील स्पष्ट शब्दों में इन अवस्थाओं में ज्ञान को स्वतः प्रामाण्य ही प्रतिपादित करते हैं। अनुमान के विषय में शान्तरक्षित का तर्क है कि अनुमान प्रामाणिक प्रत्यक्ष से युक्त व्याप्ति के आधार पर होता है। इस आधार के बिना कोई भी ज्ञान अनुमान की कोटि का नहीं माना जा सकता इसलिए अनुमान तथा प्रत्यक्ष में प्रामाण्य की दृष्टि से भेद है।[1] या तो कोई ज्ञान अनुमान ही नहीं होगा तथा यदि यह अनुमान होगा तो अवश्य ही प्रमा रूप होगा क्योंकि व्याप्ति ही अनुमान का आधार है तथा व्याप्ति कभी दूषित नहीं होती। यदि यह दूषित है तो उसका हेतु, हेतु नहीं, हेतु का आभास मात्र है तथा हेत्वाभास के आधार पर प्राप्त किया गया ज्ञान अनुमान नहीं है।

किन्तु यह सरलता से समझा जा सकता है कि शान्तरक्षित के इस तर्क में कोई विशेष बल नहीं है। इस प्रकार का तर्क किसी भी प्रकार के ज्ञान के विषय में देकर उसे स्वत. प्रामाण्य सिद्ध किया जा सकता है। हम प्रत्यक्ष के विषय में भी ऐसे ही कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष वह है जो प्रमा रूप हो तथा जो प्रमा रूप नहीं है वह प्रत्यक्ष नहीं-प्रत्यक्ष का आभास है आदि-आदि। मुख्य प्रश्न है कि जिस प्रकार प्रमा रूप प्रत्यक्ष में तथा अप्रमा रूप प्रत्यक्ष में समानता होती है तथा इसलिए उसके प्रामाण्यी-करण का प्रश्न उठता है, उसी प्रकार अनुमान तथा अनुमान के आभास में भी समानता है अथवा नहीं ? यदि हेत्वाभास से दूषित अनुमान स्पष्ट रूप से प्रमा रूप अनुमान से इतना भिन्न हो कि उसका ज्ञान होते ही तुरत ही उसके साथ ही उसके हेत्वाभास होने या न होने का ज्ञान भी निश्चित रूप से हो जाता हो तब तो शान्त-रक्षित आदि का यह तर्क बल रखता है अथवा नहीं। हम देखते हैं कि दोष युक्त अनुमान को प्रमा रूप समझ लेने की भ्रांति के उदाहरण आसानी से स्वयं दार्शनिकों में ही मिल सकते हैं। अनेक स्थलों पर पारस्परिक आलोचना करते हुए उनके तर्कों में दुष्ट हेतु की ओर उन्होंने इशारा किया है। अस्तु, हम देखते हैं कि अनुमान को इस प्रकार परिभाषित करने से कि उसमें अप्रमा के लिए परिभाषेन कोई स्थान न रहे, वास्तविक समस्या का समाधान प्राप्त नहीं होता।

जब कमलशील से यह पूछते हैं कि यदि अनुमान स्वतः प्रामाण्य है तब उसके द्वारा प्राप्त ज्ञान को लेकर मतभेद क्यों होता है तब वे इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि वास्तव में मतभेद अनुमान होने के पहले तक रहता है तथा अनुमान हो जाने पर झगड़ा समाप्त हो जाता है,[2] किन्तु इसमें अनुमान को पहले से ही प्रामाण्य ही

1. तत्त्व संग्रह कारिका 2974
2. तत्त्व संग्रह कारिका 2945

परिभाषित करने का दोष है। इस उत्तर से ऊपर उठाई गयी आपत्ति का समाधान नहीं होता।

इसी प्रकार, अभ्यासदशापन्न ज्ञान को भी शांतरक्षित तथा कमलशील स्वतः प्रामाण्य मानते हैं। उनका कहना है कि अभ्यासदशापन्न ज्ञान में उन दोषों के रहने की सम्भावना नहीं रहती जो साधारण ज्ञान में होती हैं। बार-बार के अभ्यास से इस ज्ञान में निश्चितता आ जाती है और इसलिए इसका किसी दूसरे ज्ञान से प्रामाण्यीकरण नहीं करना पड़ता।[1] उनका कहना है कि अभ्यास की अवस्था में हम प्रायः देखते हैं कि अनेक बार किये गए अनुभव से हम प्रथम अवस्था में ही ज्ञान को निश्चित एवं स्पष्ट रूप से ग्रहण कर लेते हैं। अभ्यास के कारण उसे अप्रमा रूप बनाने वाले समस्त हेतुओं का निरास हो जाता है तथा प्रथम ग्रहण में ही उससे भिन्न प्रकार के पदार्थों से उसका हम भेद ग्रहण कर लेते हैं। संतों को जो ज्ञान होता है वह इसी प्रकार का होता है तथा इसी प्रकार जौहरी तथा मुद्राओं की परख करने वाले प्रथम ग्रहण में ही खरे तथा खोटे का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। अत इस प्रकार का अभ्यासदशापन्न ज्ञान स्वतः प्रामाण्य ही होता है।

इस पर कुछ लोग कह सकते हैं कि वास्तव में यह प्रामाण्य समानता के आधार पर किया गया अनुमान ही है अत यहाँ भी प्रामाण्य परत ही माना जाना चाहिए। इस पर कमलशील पूछते हैं कि इस समानता का निश्चित ज्ञान किस आधार पर होता है ? यदि इसका उत्तर यह दिया जाए कि यह अभ्यास के कारण होता है तब हमने यह मान ही लिया कि अभ्यास से समानता का निश्चित स्पष्ट ज्ञान हो सकता है, किन्तु तब तो इससे अभ्यास के द्वारा प्राप्त ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य ही सिद्ध हुआ।

पुनः, कमलशील पूछते हैं, यह समानता क्या है ? यदि समानता ज्ञान रूप होने में है तब यह भ्रम में भी विद्यमान होती है तथा इसलिए इसमें हेतु सव्यभिचारी होगा। यदि इसे ज्ञानरूप होने में न मान कर गुणों में समानता के अर्थ में समझें तब गुणों की यह समानता तो अन्य कई वस्तुओं में भी पाई जा सकती है। उदाहरणार्थ, अग्नि के कई बार के ज्ञान में समानता उसके लाल रंग के प्रतीत होने में सिद्ध की जाए तो लाल रंग की तो और भी कई वस्तुएँ हो सकती हैं इसलिए यह हेतु भी दुष्ट होगा। और यदि यह समानता उसकी अर्थ क्रिया कारित्व की समानता में मानें तब अनवस्था दोष होगा। हम कई बार अग्नि द्वारा उत्पन्न प्रभाव से उसे जान चुके हैं तथा अभी भी उस प्रभाव के द्वारा ही उसे अग्नि रूप जानते हैं। किन्तु तब यह बतलाना आवश्यक हो जाएगा कि इस कार्य के ज्ञान के प्रामाण्य का ज्ञान

1. तत्त्व सग्रह कारिका 2969

हमें कैसे हुआ ? इसके लिए यदि अन्य अनुमान की शरण लें तो अनवस्था दोष होगा । पुनः इस अनवस्था दोष से बचने के लिए हम यह कहें कि अभ्यास के कारण इस समानता का अपरोक्ष रूप में प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है तथा इसमें अन्य हेतु की आवश्यकता नहीं है तब जिस प्रकार समानता का ज्ञान अभ्यास के कारण स्वतः प्रामाण्य माना उसी प्रकार अभ्यासदशापन्न अवस्था में सभी वस्तुओं का ज्ञान स्वत. प्रामाण्य क्यों न माना जाए ? साथ ही जब यह मान लिया गया कि समानता का यह ज्ञान अभ्यास द्वारा प्राप्त ज्ञान का कार्य है तब इसमें व्याप्ति को बीच में लाना नितांत अनावश्यक है । ज्यों ही हमें यह ग्रहण होगा कि यह हमारे ज्ञान से उत्पन्न है, हमें बिना किसी माध्यम के सीधे उसकी प्रामाण्य शक्ति का भी निश्चय हो जाएगा । इस प्रकार यह ज्ञान स्वतः प्रामाण्य होगा, अनुमान द्वारा स्थापित परतः प्रामाण्य नहीं ।

किन्तु इतने मात्र से प्रयत्नशील उन सब कठिनाइयों को दूर नहीं कर पाए हैं जिनकी चर्चा हमने न्याय के प्रसंग में की है । वास्तव में सामान्यतया परतः प्रामाण्य मानते हुए कुछ ज्ञान को स्वतः प्रामाण्य मानने में कठिनाई रहती ही है ।

हम देख चुके हैं कि प्रामाण्य के विषय में उत्पत्ति का प्रश्न उठा कर भारतीय दर्शन में बड़ा घपला पैदा कर दिया गया है । प्रामाण्य जाति वाचक पद है अतः उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती तथा यदि हम प्रमा विशेष की उत्पत्ति की चर्चा करें तब प्रश्न एक दूसरा ही रूप ले लेता है तथा फिर इस प्रश्न पर बिलकुल भिन्न रूप से विचार किया जाना चाहिए था । प्रमा विशेष की उत्पत्ति तथा प्रामाण्य की उत्पत्ति एक ही समस्या नहीं है । मोहन्ती इस विषय पर अपना मत व्यक्त करते हुए लिखते हैं "इस प्रकार यह प्रतीत होगा कि प्रामाण्य के बारे में उत्पत्ति का प्रश्न ही गलत प्रकार से सोचा गया है । किसी भी प्रकार से इसका उत्तर, चाहे वह स्वतः रूप में हो अथवा परतः रूप में, समान रूप से अप्रासंगिक है । इनमें स्वतः सिद्धान्त फिर भी आंशिक रूप से सही है क्योंकि उसमें स्वीकार किया गया है कि प्रामाण्य प्रसंग से उत्पन्न नहीं होता । किन्तु यह सिद्धान्त भी इस मुख्य बात को ग्रहण करने में असमर्थ रहा है कि वास्तव में उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती और इसीलिए वह स्वतः है । मेरा विचार है कि उत्पत्ति के सम्बन्ध में स्वतः सिद्धान्त का युक्तियुक्त प्रतिपादन समस्या को ही अस्वीकार कर देता ।"[1] इस प्रकार यह प्रश्न कि गुण भावात्मक हैं या ये दोषाभाव मात्र हैं निरर्थक तथा अप्रासंगिक हो जाता है । इस बात को लगभग सभी स्वीकार करते हैं कि ज्ञान में तथा उसके प्रमात्व तथा अप्रमात्व में उत्पत्ति की दृष्टि से समकालीनता है । ज्ञान अपनी उत्पत्ति के समय ही प्रमा या

1. गंगेश थ्योरी ऑफ ट्रुथ : इण्ट्रोडक्शन पृष्ठ 59

अप्रमा रूप होता है। न्याय का यह मत कि ज्ञान पहले क्षण नि स्वभाव उत्पन्न होता है तथा फिर बाद मे उसमें प्रमात्व तथा अप्रमात्व के गुण उत्पन्न होते हैं हास्यास्पद है। ऐसी अवस्था में यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि यदि हम प्रामाण्य की उत्पत्ति की बात न कर प्रमा विशेष तथा अप्रमा विशेष की उत्पत्ति की बात करें तो वह ज्ञान विशेष के कारण से भिन्न नही हो सकती। उस ज्ञान को उत्पन्न करने वाले समस्त भावात्मक तथा अभावात्मक परिस्थितियों का समूह उसके प्रमा या अप्रमा ज्ञान का कारण है क्योकि वहाँ ज्ञान तथा प्रमा या अप्रमा ज्ञान एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रामाण्य का प्रश्न दार्शनिकों के लिए विशेष महत्त्व का नही है। यह एक तथ्यात्मक प्रश्न है। ज्ञान होते समय ज्ञाता का उस ज्ञान के प्रति क्या दृष्टिकोण होता है इस प्रश्न का मनोवैज्ञानिक विधि से हल किया जाना चाहिए। अतः हमारे लिए यहाँ इस प्रश्न पर तार्किक दृष्टि से ही विचार करना प्रासंगिक होता, किन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं भारतीय दार्शनिकों ने इन दोनो पहलुओ को मिला कर बडा व्यामिश्र उत्पन्न कर दिया है।

इस प्रकरण में उद्धृत समस्त चर्चा से यह आसानी से स्पष्ट हो जाता है कि लगभग सभी भारतीय दर्शन कुछ अवस्थाओं में तो (अनुमान, अभ्यासदशापन्न ज्ञान तथा फल ज्ञान आदि) अवश्य ही ज्ञान को स्वत. प्रामाण्य मानने के पक्ष मे हैं। इस प्रकार उन्होने इस सत्य को ग्रहण किया है कि यदि प्रत्येक ज्ञान के प्रति हमारा दृष्टिकोण संशयात्मक ही होगा तब इस सार्वभौम संशय का कोई अन्त नही होगा तथा इस प्रकार एक आत्मविरोधी स्थिति के दलदल मे हम फँस जाएँगे। संशय का ज्ञान भी संशयात्मक हो जाने से एक ऐसी उलझन उत्पन्न हो जाएगी जिसका समाधान कदापि सम्भव नही होगा।

सामान्य परिस्थितियो में जब अद्वैत वेदान्त तथा मीमासक ज्ञान को स्वतः प्रामाण्य बतलाते हैं तब यद्यपि याथार्थ्य के अर्थ मे वे अपने पक्ष को सिद्ध करने मे सफल हो जाते हैं, किन्तु पुनरुक्ति मात्र होने से यह कथन महत्त्वहीन सिद्ध होता है। तथा अपने सिद्धान्त को महत्त्व देने के लिए वे ज्योही अबाधितता, प्रवृत्ति साफल्य आदि नये मानदडो की सहायता लेते हैं, कठिनाई में फँस जाते हैं क्योकि अबाधितता, प्रवृत्ति साफल्य आदि का ज्ञान परतः ही सम्भव है। इस दुविधा से बचने के लिए यदि हम प्रामाण्य को परतः ही स्वीकार कर लें तब भी कठिनाइयों का अन्त नहीं होता। ज्ञान के प्रामाण्य की स्थापना करने के लिए यह निश्चय होना आवश्यक है कि इस ज्ञान में दोषों का सर्वथा अभाव है। किन्तु यह निर्णय सर्वथा असम्भव है। दोष अनन्त हो सकते हैं तथा कितने ही समय तक वे ज्ञाता की निगाह से छिपे भी

रह सकते हैं अतः कभी भी कोई ज्ञाता यह कहने की स्थिति में नहीं हो सकता कि इस ज्ञान में दोषों का सर्वथा अभाव है। इसी प्रकार, यदि किसी ज्ञान का अभी तक बाध नहीं हुआ तो इससे कभी भी यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि आगे भी इसका कभी बाध नहीं होगा। अतः यदि हम प्रमा ज्ञान उसी को कहें जिसके दोष रहित होने तथा कभी भी बाधित न होने की गारंटी हो तब कभी कोई ज्ञान प्रमा रूप में ज्ञात नहीं हो सकता। इसलिए स्वतः प्रामाण्यवादियों का यह मत कि जब तक ज्ञानकरण में दोष का पता न लग जाए अथवा उसका बाध न हो जाए, उसे प्रामाण्य रूप ही माना जाना चाहिए समस्या का उचित व्यावहारिक समाधान प्रतीत होता है। यही सिद्धान्त हमारे समस्त व्यवहार व ज्ञान-विज्ञान का आधार भी है।

किन्तु यहाँ पर भी प्रश्न है कि क्या प्रथम क्षण का संवेदन ही निश्चित रूप से उसे प्रमा रूप मानने के लिए पर्याप्त आधार है? विज्ञान आदि में किसी भी ज्ञान को सावधानी से परीक्षण के बाद भी विश्वसनीय माना जाता है। किन्तु यहाँ प्रासंगिक बात यह है कि सावधानी से उसी ज्ञान को जब हम पुनः देखकर विश्वस्त होते हैं तो यह दूसरे क्षण का उसी वस्तु का ज्ञान, अन्य ज्ञान माना जाएगा या यह समस्त प्रक्रिया एक ही ज्ञान को प्रकाशित करने वाली होगी? गंगेशादि आदि ने इसे अन्य ज्ञान घोषित कर इसका प्रामाण्य परतः माना है जब कि मीमांसक इसे एक ही ज्ञान के विभिन्न क्रम मानेंगे। जब प्रथम क्षण में अपने सामने के घड़े को देखता हूँ तथा फिर पुनः सावधानी से उसे देखकर अपने ज्ञान की पुष्टि करता हूँ तो यह दूसरे क्षण वाला ज्ञान दूसरा ज्ञान माना जाकर प्रथम ज्ञान के प्रामाण्य को सिद्ध करने वाला नहीं कहा जा सकता। प्रथम ज्ञान तथा द्वितीय ज्ञान वास्तव में एक ज्ञान प्रक्रिया के दो अंग माने जाने चाहिए। यह बात स्वीकार कर लेने पर मीमांसक मत में बड़ा बल आ जाता है।

भारतीय दर्शन में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य पर अलग-अलग से विचार कर उसके बारे में भिन्न-भिन्न मत प्रतिपादित किए गए हैं वे मनोवैज्ञानिक दृष्टि तथा तार्किक दृष्टि में घपला कर देने के कारण ही हैं। तार्किक दृष्टि से प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य की समस्या अलग से नहीं प्रतीत होती। वास्तव में प्रामाण्यीकरण तथा अप्रामाण्यीकरण दोनों ही प्रमा ज्ञान के प्रदाता हैं। जब हमें यह पता लग जाए कि यह ज्ञान सत्य या असत्य है तब हम निश्चित ज्ञान पर पहुँच जाते हैं। भारतीय दर्शन में भ्रम तथा संशय दोनों को ही अप्रमा की कोटि में रखता है किन्तु प्रामाण्य के प्रसंग में अधिकतर विचार उसको सत्य के अर्थ में समझ कर किया गया है। न्याय समझता है कि कोई भी ज्ञान जब हमें प्राप्त होता है तब उसके प्रति हमारा दृष्टिकोण अनिश्चय का होता है अतः न वह प्रमा रूप में ज्ञात होता है और न अप्रमा रूप में। बौद्ध कहते हैं कि अप्रामाण्य प्रामाण्य का अभाव है तथा जब ज्ञान होता है तब वह

प्रामाण्य रूप ज्ञात नही होता अतः उसे स्वतः अप्रामाण्य ही मानना चाहिए। यहाँ न्याय के तथा बौद्धों के अप्रामाण्य के अर्थ में भेद है। बौद्ध अप्रामाण्य को निषेधात्मक लक्षण वाला समझते हैं तथा कहते हैं कि प्रामाण्य का अभाव ही अप्रामाण्य है जबकि न्याय के अनुसार अप्रामाण्य का वैसा ही भावात्मक अर्थ है जैसा प्रामाण्य का तथा किसी ज्ञान के अप्रामाण्य रूप ज्ञात होने के लिए उसका उस प्रकार का भावात्मक ज्ञान होना आवश्यक है। किन्तु जैसा हमने अभी कहा न्याय सहित समस्त भारतीय दार्शनिक संशय को अप्रमा के अन्तर्गत ही मानते हैं तथा न्याय के अनुसार जब ज्ञान होता है तब यद्यपि उसके भ्रम रूप होने का निश्चय हमें नही होता, वह स्थिति संशय की स्थिति से भिन्न कोई स्थिति होती है, ऐसा नही कहा जा सकता अतः इस दृष्टि से न्याय मत ठीक नही लगता है। इस अर्थ में यदि वे प्रामाण्य को परतः मानते हैं तब उन्हें अप्रामाण्य स्वत ही मानना होगा जैसा कि बौद्ध मानते हैं।

मीमासा अप्रामाण्य का अर्थ संशय रूप में न लेकर निश्चित भ्रम रूप मे लेते हैं। जब वे कहते हैं कि कारण दोष ज्ञान से या प्रवृत्ति विसवाद से अप्रामाण्य का बोध होता है तो वे अप्रामाण्य को निश्चित ज्ञान के अर्थ मे ही ले रहे हैं। अब यदि बौद्धों से यह प्रश्न किया जाए कि अप्रामाण्य को मीमासा के अर्थ मे निश्चित ज्ञान के अर्थ मे लें तब उनके अनुसार उसका ज्ञान किस प्रकार होता है? हमारा विचार है कि वहाँ पर परत अप्रामाण्यवाद ही उनके सिद्धान्त के अधिक अनुकूल होगा। इस प्रकार, वास्तव मे अप्रामाण्यवाद को लेकर जो मतभेद इन दार्शनिकों में उत्पन्न हुआ है वह मुख्यतया अप्रामाण्य को विभिन्न अर्थों में समझने के कारण ही है, मूलतः उनमे कोई भेद नही प्रतीत होता।

□ □ □

4

कार्य-कारण सिद्धान्त

कार्य-कारण की समस्या पर दो विभिन्न सन्दर्भों में विचार किया जा सकता है। प्रथम, ज्ञान-मीमांसा की दृष्टि से तथा द्वितीय, तत्त्व-मीमांसा की दृष्टि से। इनमें से पाश्चात्य दर्शन में जहाँ ज्ञान-मीमांसीय पहलू पर विशेष बल दिया गया है, भारतीय दर्शन में दोनों ही पक्षों का विशद विवेचन हुआ है।

ज्ञान के सन्दर्भ में कार्य-कारण सिद्धान्त :—यह स्पष्ट है कि हमारा समस्त ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभूति पर आधारित नहीं होता, अधिकांशतया वह अनुमानित होता है। पर्वत पर धुआँ देखकर अग्नि का ज्ञान अनुमान के द्वारा ही होता है। इसी प्रकार, विज्ञान तथा व्यवहार का अधिकांश ज्ञान अनुमान पर आधारित होता है। यहाँ पर मुख्य प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस अनुमान का आधार क्या है? हम किस आधार पर कह सकते हैं कि धुआँ सदैव अग्नि के साथ ही रहेगा तथा इसके बिना कभी नहीं रहेगा। यदि हम इस प्रश्न का उत्तर पा जाते हैं कि दो घटनाओं के बीच नियत-अनिवार्य-सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है, तो ज्ञान-मीमांसा की एक बहुत बड़ी समस्या हल हो जाती है। पाश्चात्य दर्शन में इस समस्या का हल कार्य-कारण सम्बन्ध द्वारा किया गया है। उनका कथन है कि कार्य-कारण सम्बन्ध इस प्रकार का नियत तथा आवश्यक सम्बन्ध होता है तथा यह जान लेने पर कि अमुक घटनाओं में कार्य-कारण सम्बन्ध है, हम निश्चित रूप से एक से दूसरे का अनुमान लगा सकते हैं। यद्यपि समय-समय पर इस कार्य-कारण सम्बन्ध को लेकर दार्शनिकों ने मूलभूत आपत्तियाँ उठाई हैं, किन्तु उन सभी की हम इस स्थल पर चर्चा नहीं करेंगे।

भारतीय दार्शनिक भी अनुमान के सन्दर्भ में उपर्युक्त प्रश्न उठाते हैं, किन्तु उनका दृष्टिकोण अधिक व्यापक है। उनके अनुसार कार्य-कारण सम्बन्ध अनिवार्य सम्बन्धों में से एक है। और भी कई प्रकार के नियत तथा अनिवार्य सम्बन्ध उन्होंने स्वीकार किए हैं। इस प्रकार, भारतीय दार्शनिक अनुमान का आधार कार्य-कारण सम्बन्ध न मानकर व्याप्ति सम्बन्ध मानते हैं जो कार्य-कारण सम्बन्ध से अधिक व्यापक है। कार्य-कारण सम्बन्ध व्याप्ति सम्बन्ध का एक प्रकार मात्र है। इस समस्या पर विस्तृत रूप से हम अनुमान प्रकरण में व्याप्ति प्रसंग में विचार करेंगे।

किन्तु कार्य-कारण की समस्या एक अन्य सन्दर्भ में भी उत्पन्न होती है। यह

समस्या मुख्य रूपेण उपादान कारण तथा कार्य के सम्बन्ध को लेकर है। मिट्टी घट का उपादान कारण कहा जाता है तथा इस उपादान कारण तथा उसके कार्य को लेकर कई दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जिन पर बड़े विस्तार तथा सूक्ष्मता से भारतीय दार्शनिकों ने चिंतन किया है।

दर्शन का एक मुख्य प्रयोजन जगत् की व्याख्या करना भी है। ये व्याख्याएँ अनेक प्रकार की हो सकती हैं किन्तु उनमें से एक मुख्य प्रकार हमारे आनुभविक जगत् का मूल कारण खोजना तथा उस मूल तत्त्व के सन्दर्भ में इस व्यक्त जगत् के सम्बन्ध का निर्धारण करना भी रहा है। इसीलिए जगत् तथा इसके विभिन्न पदार्थ किस प्रकार उत्पन्न होते हैं, यह प्रश्न भारतीय दार्शनिकों के लिए महत्त्वपूर्ण रहा है तथा लगभग सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने इस प्रश्न पर गम्भीरता से चिंतन किया है। कार्य-कारण की समस्या के प्रति दर्शन विशेष का दृष्टिकोण एक प्रकार से उस समस्त दर्शन को समझने की कुंजी कही जा सकती है। स्पष्टतः इस समस्या के समाधान पर ही उनके दर्शन का सामान्य रूप निर्भर करता है। इस जगत् का कोई मूल उपादान कारण है अथवा नहीं, यदि है तो उस मूल तत्त्व का इस व्यक्त जगत् से क्या सम्बन्ध है तथा किस प्रकार उस मूल तत्त्व से इस जगत् की सृष्टि सम्भव है, इन समस्याओं का समाधान कारण तथा कार्य के स्वरूप तथा उनके सम्बन्ध का निर्धारण करके ही किया जा सकता है।

न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों के अनुसार कार्य, कारण से एक बिलकुल भिन्न वस्तु है जो एक निश्चित समय पर उत्पन्न होती है। घट मिट्टी से बिलकुल भिन्न तत्त्व है, मिट्टी मिट्टी है तथा घट घट। कार्य के कारण से नितांत भिन्न वस्तु होने के पक्ष में उन्होंने निम्न तर्क प्रस्तुत किए हैं :

यदि कारण तथा कार्य बिलकुल भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं तो कार्य की आवश्यकता ही क्या है ? साथ ही उसे उत्पन्न करने के लिए निमित्त कारण रूप साधनों की भी क्यों आवश्यकता होनी चाहिए।

उन दोनों के एक होने पर कारण का उपयोग भी कार्य की भांति ही सम्भव होना चाहिए। मिट्टी ही पानी भरने तथा घट के अन्य उपयोगों के लिए समर्थ होनी चाहिए।

न्याय-वैशेषिक मत का आधार हमारा यह सामान्य अनुभव है कि कार्य को उत्पन्न करने में कारण में कोई परिवर्तन नहीं होता। परमाणु जब विभिन्न रूप से मिल कर कार्य रूप अन्य वस्तु को जन्म देते हैं तो परमाणु वैसे ही रहते हैं, जैसे वे अपनी पूर्व दशा में थे। इसी प्रकार, तन्तु मिलकर जब पट को उत्पन्न करते हैं तो उनमें तन्तुओं में किसी भी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं होता।

दूसरा तर्क है कि प्रत्येक स्थूल पदार्थ परमाणुओं से बना हुआ है। परमाणु

स्वरूपतः इतने सूक्ष्म हैं कि वे कदापि प्रत्यक्ष के विषय नहीं हो सकते। वे ही अनेक परमाणु मिल कर स्थूल वस्तु का कारण बनते हैं। इस प्रकार परमाणु तथा स्थूल वस्तु में स्वरूपतः भेद सिद्ध हो जाता है। परमाणु, स्वरूपतः सूक्ष्म तथा प्रत्यक्ष अगोचर होते हैं तथा कार्य रूप वस्तु, स्वरूपतः स्थूल तथा प्रत्यक्ष गोचर। अन्यथा, यह मानना होगा कि परमाणु प्रत्यक्ष गम्य हो सकते हैं अथवा मिलने पर परमाणुओं के स्वरूप में परिवर्तन हो जाता है। किन्तु दोनों ही मत अमान्य हैं।

इस विषय में उद्योतकर का कहना है कि घट आदि स्थूल पदार्थों के ज्ञान का कारण परमाणुओं को मानने पर प्रश्न उठता है कि यह घटादि का ज्ञान परमाणुओं में किसी विशेषता के उत्पन्न होने पर होता है अथवा नहीं। यदि यह किसी विशेषता के कारण होता है तो यह विशेषता ही अवयवी है। किन्तु यदि हम इस ज्ञान को बिना किसी विशेषता के ही मानें तो यहाँ पर विरोधाभास उत्पन्न होता है क्योंकि ऐसी अवस्था में परमाणुओं में एक साथ ही प्रत्यक्ष योग्यता तथा प्रत्यक्ष अयोग्यता के गुण विद्यमान होंगे। इस पर यदि कोई कहे कि संयोग के कारण परमाणुओं में प्रत्यक्ष गम्यता उत्पन्न होती है तो इसका उत्तर है कि परमाणुओं के प्रत्यक्ष-गम्य न होने से उनका संयोग भी प्रत्यक्ष गम्य नहीं हो सकता।[1]

अस्तु, हम देखते हैं कि न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों के अनुसार कारण अपरिवर्तित रहते हुए भी अपने से भिन्न एक पूर्ण रूपेण नवीन तत्व को जन्म देता है जिसे कार्य कहते हैं। कारण द्रव्य के विभिन्न अवयव जब एक निश्चित रूप में व्यवस्थित होते हैं तो एक व्यूह विशेष की रचना होती है तथा यह व्यूह विशेष ही कार्य का उत्पादक है। विभिन्न तन्तु विशेष रूप से व्यवस्थित होकर पट नामक एक नवीन तत्व को उत्पन्न करते हैं जो नाम, रूप, प्रभाव कार्य यहाँ तक कि भार तथा रंग आदि में भी अपने कारण-द्रव्य से बिलकुल भिन्न होता है। न्याय-वैशेषिक दार्शनिक इसीलिए कारण को अवयव तथा कार्य को अवयवी नाम से सम्बोधित करते हैं। अवयवी अवयव से बिलकुल भिन्न एक नवीन तत्व है तथा यह अवयवों में पहले से कदापि किसी भी रूप में विद्यमान स्वीकार नहीं किया जा सकता। अवयवी की पूर्ण रूपेण नई सृष्टि मानने के कारण यह सिद्धान्त असत् कार्यवाद अथवा आरम्भवाद के नाम से पुकारा जाता है।

चूँकि इस मत के अनुसार कारण की स्थिति कार्य के उत्पन्न होने पर भी वैसी ही रहती है जैसी पहले थी, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता, अतः यह कथन कि कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है अनुचित प्रतीत होता है। वस्तुस्थिति यह है कि इस मत के अनुसार कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है, परमाणु वैसे ही रहते

1. न्याय वार्तिक पृष्ठ 502

हैं जैसे पहले थे तथा उन्हीं परमाणुओं में एक विशेष रूप से व्यवस्थित होने पर अन्य स्थूल भूत तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार यह कहा जाएगा कि तन्तुओं मे पट की उत्पत्ति होती है, तन्तुओं से नही।

यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि एक दृष्टि से यह मत अपने अत्यन्त विरोधी विवर्तवादी मत के कितना समीप आ जाता है। विवर्तवाद के अनुसार कारण सदैव अपरिवर्तनीय स्थिति मे रहता है तथा कार्य की उत्पत्ति उस पर कोई प्रभाव नहीं डालती। न्याय-वैशेषिक मत भी इस बात से विवर्तवादियों से पूर्ण रूपेण सहमत है। विवर्तवादी भी यह कहना पसंद नहीं करेंगे कि कार्य नाम की कोई वस्तु होती ही नही है। यदि ऐसा होता तो विवर्त कहने की आवश्यकता ही नही थी। यह बात अनुभव द्वारा सिद्ध है कि कार्य की भी सत्ता है। प्रश्न केवल यह है कि इस प्रकार कार्य रूप में एक सर्वथा नई वस्तु की शून्य में से उत्पत्ति होती हो यह विवर्तवादियों को तर्क विरुद्ध होने के कारण अमान्य है, इसीलिए वे उसे विवर्त कहते हैं, जबकि न्याय-वैशेषिकों के मत मे विवर्तवादियों की इस तार्किक कठिनाई का कोई ठोस आधार नही है। जब हम एक नई सत् वस्तु की उत्पत्ति को प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करते हैं तो युक्ति के आधार पर उसे झुठलाया नही जा सकता। इन दोनो मतों का परीक्षण हम आगे करेंगे। यहाँ पर हमें वेदान्त मत से इसका भेद समझ लेना चाहिए। इस मत मे कार्य द्रव्य वास्तविक है, वह वास्तव में उत्पन्न होता है तथा वास्तव में नष्ट भी होता है। हाँ, कारण-द्रव्य में तथा कार्य-द्रव्य में यहाँ पर परिवर्तन की कोई सम्भावना नहीं है।

न्याय-वैशेषिक मत अवयव तथा अवयवी को समवाय सम्बन्ध से सम्बन्धित मानते हैं। यह सुविदित है कि समवाय सम्बन्ध दो भिन्न पदार्थों के बीच होता है। जहाँ एक वस्तु दूसरी अयुतसिद्ध होती है वही पर समवाय का सम्बन्ध होता है। इसका अर्थ है कि जब एक वस्तु की स्थिति पूर्णरूपेण दूसरी पर निर्भर होती है, वह अयुतसिद्ध होती है। किसी वस्तु को दूसरी से अलग नहीं किया जा सके तथा अलग करने पर उसकी सत्ता ही समाप्त हो जाए तो वहाँ अयुत सम्बन्ध होता है। तंतु से वस्त्र को अलग नहीं किया जा सकता, उससे अलग उसकी स्थिति सम्भव ही नही है, तथा यदि हम तंतु को नष्ट कर दें तो वस्तु का भी स्वतः ही नाश हो जायगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि अवयवी की अवयव से पृथक् सत्ता असम्भव है किन्तु इससे वे एक नहीं हो जाते। इसलिए न्याय मत मे उपादान कारण के लिए समवायी कारण तथा अन्य कारणों के लिए असमवायी कारण शब्द का प्रयोग किया गया है। कारण स्पष्ट है। कारण के वे घटक जो कार्य से अलग नहीं किए जा सकते अथवा जिनके अलग करने से कार्य की सत्ता नष्ट हो जाती है, समवायि कारण कहे जाते हैं तथा उपादान अथवा अवयवी इसी प्रकार के घटक हैं। इसके अतिरिक्त अन्य घटक, जैसे कुंभकार अथवा

दंड, चक्र आदि घट निमित्त कारण अथवा असमवायि कारण कहलायेंगे क्योंकि वे उससे अलग स्थित होते हैं तथा उनके नष्ट होने से कार्य के ऊपर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता। कुंभकार तथा उसका चाक आदि घट से पृथक् ही स्थित होते हैं तथा उनके नष्ट हो जाने से घट यथावत् रहता है, वह उससे किसी भी प्रकार से प्रभावित नहीं होता इसलिए ये असमवायि या निमित्त कारण हैं। किन्तु यह बात घट तथा मिट्टी के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती।

यह ज्ञातव्य है कि न्याय-वैशेषिक यहाँ वस्तु को एक निश्चित अर्थ में स्वीकार करते हैं, तथा यह कार्य अन्य दर्शनों द्वारा मान्य वस्तु के अर्थ से भिन्न है। वस्तु के अर्थ की इस भिन्नता को समझ लेने पर जहाँ हमें इन दर्शनों के विवाद को समझने में सहायता मिलती है वहीं पर हमें यह भी समझ में आता है कि वास्तव में इन विभिन्न मतों में मूलतः विरोध नहीं है। यहाँ वस्तु के अर्थ भेद होने से ही कार्य-कारण सिद्धान्त का यह मतभेद उत्पन्न हो गया है। प्रश्न है कि किसी वस्तु को आप किस प्रकार परिभाषित करेंगे? जहाँ अद्वैत वेदान्त नाम रूप तथा उसके क्रिया-कारित्व में वस्तु के लक्षण रूप में स्वीकार न कर केवल उसके कारण तत्व अथवा अधिष्ठान को ही वस्तु तत्व रूप में ग्रहण करता है। वहाँ न्याय-वैशेषिक कारण तत्व को वस्तु तत्व स्वीकार करने के लिए कदापि तैयार नहीं है। उनके लिए वस्तु केवल क्रियाकारित्व रूप में ही परिभाषित की जा सकती है। घट का लक्षण वे सब प्रभाव हैं जो घट उत्पन्न करता है। इन प्रभावों में उसकी व्यावहारिक उपयोगिता भी एक मुख्य घटक है। उसके गुण, रूप, रंग, भार आदि भी उसके आवश्यक घटक हैं। कंगन तथा कुंडल यद्यपि एक ही द्रव्य स्वर्ण से निर्मित हैं फिर भी कंगन तथा कुंडल दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। उनके रूप आदि में भिन्नता होने के साथ ही साथ उनकी व्यावहारिक उपयोगिता में मूल भिन्नता है। कंगन हाथ में पहिना जाता है तथा कुंडल कानों में। स्वर्ण इन दोनों से भिन्न वस्तु है क्योंकि उसका उपयोग इनमें से किसी भी कार्य में नहीं होता।

विज्ञान भी वस्तु की लगभग ऐसी ही परिभाषा स्वीकार करता है। विश्व के सभी भौतिक पदार्थ परमाणु के मूल घटक इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन तथा न्यूट्रॉन से बने हुए हैं। ये घटक विभिन्न रूप में व्यवस्थित होकर ही विभिन्न तत्वों को उत्पन्न करते हैं जिनके रूप, गुण, व्यवहार आदि में भेद होता है। विभिन्न वस्तुओं का भेद इन्हीं के आधार पर स्वीकार किया जाता है न कि उनके अधिष्ठान अथवा उपादान तत्व के आधार पर, क्योंकि सभी भौतिक वस्तुएँ वास्तव में एक ही उपादान तत्व से बनी हैं।

यहाँ पर यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि यद्यपि मुख्यतया न्याय-वैशेषिक मत सामान्य धारणा पर आधारित है फिर भी अन्य कई दर्शनों की भाँति कार्य-कारण सिद्धान्त में भी वह उस धारणा से बहुत दूर हो गया है। सामान्य धारणा के अनुसार

कारण-कार्य का अर्थ है परिवर्तन। कारण में कुछ अवस्थाओं में परिवर्तन होता है। ऐसी परिवर्तन की स्थिति मे पूर्ववर्ती अवस्था कारण तथा उत्तरवर्ती अवस्था कार्य कहलाती है। किन्तु जैसाकि हम देख चुके हैं न्याय-वैशेषिक दर्शन में इस परिवर्तन को कोई स्थान नही है। कारण वैसा का वैसा अपरिवर्तित रूप मे रहता है तथा उसमें संस्थान रूप मे सर्वथा नवीन वस्तु जिसे कार्य कहा जाता है, उत्पन्न होती है। न्याय मत मे परिवर्तन है ही नही, केवल सृष्टि तथा नाश है।[1]

अवयव तथा अवयवी को भिन्न मानने में तत्पर नैयायिक यहाँ तक आगे बढ़ जाते हैं कि इस बात को कहने मे भी वे नहीं हिचकते कि अवयवी के गुण, मात्रा, यहाँ तक कि भार भी अवयवों से भिन्न होता है। अवयवी के इस रंग, मात्रा तथा भार आदि के भिन्न होने के लिए वे अनेक प्रमाण भी देते हैं। यह स्पष्ट है कि मात्रा तथा भार को लेकर अवयव तथा अवयवी मे भेद स्थापित नही किया जा सकता। किन्तु चूंकि अधिक उत्साह में वे इस भेद को मान बैठे अतः उनके लिए इसके पक्ष मे कुछ न कुछ तर्क भी देना आवश्यक हो गया। उदाहरण के लिए, यह कहा गया कि अवयवी का यह भार इतना सूक्ष्म होता है कि उसका ग्रहण संभव नही है। यह स्पष्ट है कि ये तर्क केवल तर्क के लिए दिये गए हैं तथा उनकी यह मान्यता किसी भी प्रकार युक्ति-युक्त नहीं सिद्ध की जा सकती।

अवयव तथा अवयवी रूप में कारण-कार्य की न्याय-वैशेषिक व्याख्या में कार्य-कारण सम्बन्ध आतंरिक न रहकर बाह्य हो जाता है। वे दोनों एक ही घटना क्रम की पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती अवस्थायें न होकर पूर्णरूपेण भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हो जाती हैं। यह धारणा सामान्य रूप से मान्य कारण-कार्य-सम्बन्ध के विपरीत पड़ती है।

न्याय-वैशेषिक मत की अन्य दार्शनिकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से आलोचना की है। प्रथम प्रश्न तो यह है कि क्या हर परिस्थिति में विभिन्न भागों का मिलना अवयवी को जन्म देता है? बांस की विभिन्न लकड़ियां जब-जब एक बंडल के रूप में एकत्रित करली जाती हैं तो क्या यहाँ एक नई वस्तु की उत्पत्ति होती है? अथवा जब कई व्यक्ति एक जगह वैसे ही भीड़ के रूप मे एकत्रित हैं अथवा पत्थरों का वैसे ही

1. 'प्रस्तुत सदर्भ में यह ध्यान रखना चाहिए कि नैयायिकों ने अपनी दृष्टि से परिवर्तन की व्याख्या करने का प्रयास अवश्य किया है। उदाहरण के लिए 'विश्वनाथ अपनी न्याय सिद्धान्त मुक्तावली में पीलुपाक तथा पिठरपाकवाद को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि मूल द्रव्य (परमाणु) में परिवर्तन होता है। परमाणुओं में नया रूप तथा संयोग उत्पन्न होकर वह नये द्रव्य का जन्म देता है। किन्तु उनका यह प्रयास पूर्ण रूपेण असफल रहा है। परमाणु अपरिवर्तनशील नित्य द्रव्य हैं जिनमें किसी भी प्रकार के परिवर्तन की कल्पना नहीं की जा सकती। संयोग आदि से उन परमाणुओं में नये द्रव्य की उत्पत्ति अवश्य होती है किन्तु यह कारण द्रव्य में परिवर्तन को घटित नहीं करता।

कोई ढेर पड़ा हुआ है तो इन स्थितियों में किसी अवयवी की उत्पत्ति स्वीकार की जायेगी ? नैयायिक इसका उत्तर निषेधात्मक रूप में देते हैं। उनका कहना है कि अवयवी तथा समुदाय में भेद है ? जब कभी विभिन्न वस्तुओं अथवा अवयवों का समुदाय किसी नये प्रयोजन को सिद्ध करता है तो वहाँ अवयवी उत्पन्न होता है अन्यथा वह समुदाय मात्र रहता है। किन्तु इस पर आगे और प्रश्न उठता है तथा यह पूछा जा सकता है कि इस बात का ज्ञान कैसे होगा कि समुदाय विशेष किसी नये प्रयोजन को सिद्ध करता है अथवा नहीं। नैयायिक इसके उत्तर में कहते हैं कि कोई समुदाय अवयवी है अथवा समुदाय मात्र, इसका ज्ञान अनुभव मात्र से होता है। किसी भी निश्चित नियम के स्थापित करने की संभावना को वे अस्वीकार करते हैं।

यहाँ बौद्ध दार्शनिकों को न्याय मत की आलोचना का अच्छा अवसर मिल जाता है। वे कहते हैं कि यह अवयवी तो सामान्य लक्षण है जो मात्र कल्पना है। जब कभी कोई समुदाय हमारे विशेष प्रयोजन को हल करता है तो उसे उस प्रकार का अवयवी मान लिया जाता है अन्यथा वह समुदाय मात्र रहता है। किसी भी समुदाय का यह प्रयोजन-पूर्णता का गुण सापेक्ष वस्तु है। एक परिस्थिति में अथवा एक दृष्टि से एक समुदाय एक प्रयोजन को पूर्ण करता है तथा दूसरी परिस्थिति में अथवा दूसरी दृष्टि से वही समुदाय उससे भिन्न प्रयोजन का पूरक होता है। लकड़ी के समुदाय विशेष को अब तक हम तख्त समझे हुए थे तथा हमारे सोने-बैठने आदि के प्रयोजन को वह पूर्ण भी कर रहा था किन्तु जब हमारा मित्र घर लौटा तो उसने बतलाया कि जिस वस्तु को हम तख्त समझ रहे थे तथा उसी कार्य में उसका प्रयोग भी कर रहे थे, वास्तव में खाना खाने की मेज है। ऐसी अवस्था में उस समुदाय को वास्तव में कौनसा अवयवी स्वीकार किया जावे ? साथ ही यह भी सम्भव है कि आज तक किसी समुदाय विशेष के प्रयोजन का हमें ज्ञान नहीं है किन्तु बाद में उसकी प्रयोजन-पूरकता का ज्ञान सम्भव है ऐसी अवस्था में समुदाय तथा अवयवी का भेद करना कठिन हो जावेगा। कोई भी व्यक्ति निश्चय के साथ यह नहीं कह सकता कि अमुक समुदाय भविष्य में भी किसी भी प्रयोजन की पूर्ति में समर्थ नहीं होगा। अत: किस आधार पर यह कहा जाए कि समुदाय विशेष अवयवी है अथवा समुदाय मात्र। वास्तव में प्रयोजन-पूरकता सापेक्ष पद है। यह सदैव मानव की आवश्यकता, इच्छा आदि पर निर्भर होती है। किसी भी वस्तु के लिए निरपेक्ष रूप से यह निर्धारित नहीं किया जा सकता कि अमुक वस्तु अमुक प्रयोजन की ही पूर्ति करेगी, अन्य की नहीं ; अथवा अमुक वस्तु किसी भी परिस्थिति में किसी भी प्रयोजन की पूर्ति नहीं करेगी। अतः न्याय दार्शनिक समुदाय तथा अवयवी का भेद वस्तु परक मानते हुए भी जब उसके भेद का आधार प्रयोजन-पूरकता स्वीकार करते हैं तब इसमें असंगति होना अनिवार्य है।

बौद्ध मत का प्रत्युत्तर देते हुए नैयायिक तर्क करते हैं कि यदि अवयवी को अवयव

से भिन्न तथा वास्तविक स्वीकार नहीं करेंगे तो किसी भी स्थूल पदार्थ का प्रत्यक्ष सम्भव नही होगा। हमें फिर केवल अवयवो का ही प्रत्यक्ष करते रहना चाहिए, जैसाकि वास्तव में होता नही है। किन्तु इस तर्क से बौद्धों के मत का खंडन नही होता। सामान्य लक्षण अथवा कल्पित रूप से बौद्ध भी अवयवी की सत्ता को अस्वीकार नहीं करते। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ अनुभव के आधार पर न्याय अपने अवयव, अवयवी तथा समुदाय के भेद को प्रतिपादित करते हैं, वही अनुभव के आधार पर ही बौद्ध उसका खंडन भी करते हैं। जहाँ अनुभव हमें बतलाता है कि किसी समुदाय से किसी प्रयोजन की सिद्धि होती है तथा किसी समुदाय से नही, वही अनुभव यह भी बतलाता है कि यह प्रयोजन की सिद्धि परिस्थिति तथा ज्ञान-सापेक्ष है अतः निरपेक्ष तथा वास्तविक अवयवी की उत्पत्ति स्वीकार करना अनुभव विरुद्ध भी है।

जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है बौद्ध दार्शनिक न केवल समुदाय तथा अवयवी के के भेद को अवास्तविक मानते हैं, वे अवयव तथा अवयवी के भेद की वास्तविकता को भी अस्वीकार करते हैं। न्याय में जो अवयव तथा अवयवी की भिन्न-न्नि वास्तविक सत्ता को स्वीकार किया गया है, उसकी आलोचना करते हुए वे कहते हैं कि अवयव से भिन्न अवयवी का प्रत्यक्ष हमें कदापि नहीं होना। शंकर भी इस विषय में कहते हैं कि कार्य-कारण में अश्व-महिष के समान भेद बुद्धि के अभाव होने मे तादात्म्य स्वीकार करना चाहिये। (भाष्य-ब्रह्म सूत्र 2.1.18) अवयव तथा अवयवी दोनो वस्तु रूप से एक ही प्रतीत होते हैं। तथा ऐसी अवस्था मे यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि किन्हीं दो वस्तुओ को भिन्न-भिन्न सत्ता तो हम स्वीकार कर लें किन्तु उनके भिन्न-भिन्न आकार आदि के ज्ञान की सम्भावना को अस्वीकार करदें। भिन्न वस्तुओं का प्रत्यक्ष भिन्न रूप से आवश्यक है। यदि हम तर्क के लिए यह बात स्वीकार कर भी लें कि अवयव तथा अवयवी का भिन्न-भिन्न रूप में ग्रहण होता है तब भी यह तो मानना ही होगा कि वही एक वस्तु दृष्टि भेद से एक समय अवयव तथा दूसरे समय अवयवी रूप में ज्ञात होती है। अवयवी पट तथा अवयव तंतु का ज्ञान एक साथ ठीक इसी प्रकार का नहीं होता जैसा मेज तथा कुर्सी का होता है। वही एक वस्तु एक दृष्टि से पट तथा दूसरी दृष्टि से तन्तु रूप में ज्ञात होती है। यह दृष्टि भेद प्रयोजन पर आधारित होता है। स्वर्णकार के पास जब हम कंगन तथा कुंडल बेचने जाते हैं तब वह उसे कंगन तथा कुंडल रूप में न देखकर स्वर्ण रूप मे ही देखता है, किन्तु नारी जिसे वे आभूषण पहनने होते हैं, प्रयोजन भेद के कारण उनको स्वर्ण रूप न देख कर अवयवी रूप कंगन तथा कुंडल को ही प्रधानता देती है। बौद्धों का तर्क इतना प्रबल है कि नैयायिकों को भी इसे स्वीकार करना पड़ा। उदाहरण के लिए, जयन्त का कहना है कि जब हम किसी वस्तु के अवयव पर ध्यान देते हैं तथा उसके अवयवी पर ध्यान नहीं देते तो उसका बौद्धिक विनाश हो जाता है।

जैसाकि हम पहले देख चुके हैं नैयायिक अवयव तथा अवयवी की भिन्नता को प्रमाणित करने के लिए उन दोनों में रंग भेद, मात्रा भेद, भार भेद आदि का भी आग्रह करते हैं। किन्तु बौद्ध इस आग्रह की खिल्ली उड़ाते हुए इसे सर्वथा अनुभव विरुद्ध घोषित करते हैं। न्याय मत के अनुसार द्रव्य तथा गुण भी भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। तथा द्रव्य गुण का समवायी कारण है। पहले गुण-हीन द्रव्य उत्पन्न होता है तथा फिर उसमें गुण की उत्पत्ति होती है। अवयव-अवयवी सम्बन्ध में अवयव के रंग का समवायी कारण अवयव है किन्तु अवयवी के रंग का समवायी कारण अवयवी है अवयव नहीं। अवयव का रंग उसका असमवायी कारण है। अब यदि हम ऐसा उदाहरण लें, जहाँ कोई पट विभिन्न रंग के धागों से निर्मित है तो समस्या अधिक स्पष्ट होती है। विभिन्न रंग अलग-अलग रूप से अलग-अलग अवयव के विशेषण हैं। अब प्रश्न यह है कि उस पट का रंग एक है अथवा अनेक। बौद्ध दार्शनिक कहते हैं कि पट भी अनेक रंग का कहा जायेगा। तथा यदि पट को साथ ही साथ अवयव से पूर्ण रूपेण एक भिन्न सत्ता भी मानते हैं तो यहाँ विरोधाभास उत्पन्न होगा। एक ही वस्तु को एक ही साथ दो विभिन्न रंगों वाली कैसे स्वीकार किया जा सकता है। यहाँ पर पट को एक स्थान पर एक रंग वाला तथा दूसरे स्थान पर दूसरे रंग वाला मान कर हम विरोधाभास से बचा जा सकता है। किन्तु यह तो फिर अवयव-दृष्टि हुई, अवयवी-दृष्टि नहीं।

किन्तु नैयायिक इसका बड़ी दृढ़ता से उत्तर देते हैं कि वह पट अनेक रंगवाला नहीं वरन् एक रंगवाला कहा जायगा। उस पट का रंग वह सामूहिक रूप से प्रतिफलित प्रभाव का रंग होगा जो कि वे उत्पन्न करते हैं। न्याय का यह तर्क एक दृष्टि से काफी महत्व का तथा युक्तियुक्त प्रतीत होता है, यद्यपि श्री शास्त्री[1] ने इसके महत्व पर ध्यान न देकर बौद्ध मत को ही प्रधानता दी है। किसी भी चित्र का उदाहरण न्याय मत को स्पष्ट कर देता है। चित्रकार एक रंग विशेष को चित्रित करने के लिए कई रंगों से काम लेता है तथा यदि हम समीप से उसका विश्लेषण करके देखें तो वह विभिन्न रंगों का समूह मात्र ही प्रतीत होगा, किन्तु चित्र की वास्तविकता इस विभिन्न रंगों के समूह में न होकर उसके सम्पूर्ण प्रभाव में है। यही तर्क प्रत्येक वस्तु के बारे में दिया जा सकता है। श्रीधर के इस कथन पर कि "हमारा यह सामान्य अनुभव है कि विभिन्न कारणों से एक कार्य उत्पन्न होता है, इसी प्रकार चित्र रूप एक होते हुए भी अनेक रंगों से उत्पन्न होता है" श्री शास्त्री का यह कथन कि "यह एक विचित्र उदाहरण है जिसमें न्याय-वैशेषिक अनुभव की दुहाई देकर ऐसे बात प्रमाणित करने हैं, जिसको सदैव युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता", इस बात की ओर संकेत करता है कि उन्होंने तर्क की गम्भीरता पर ध्यान नहीं दिया।

1. डी० एन० शास्त्री : क्रिटीक ऑफ इण्डियन रीयलिज्म पृष्ठ 256

इसी प्रकार अवयव तथा अवयवी के भार में भी भिन्नता होने का मत युक्तिहीन प्रतीत होता है तथा जो तर्क इसके पक्ष में न्याय ने दिये हैं वे भी बिना किसी आधार के हैं, किन्तु यह सब कठिनाई इसलिए प्रतीत होती है कि हम विज्ञान के परिमाणात्मक भेद से अत्यधिक प्रभावित हैं। यह ठीक है कि विश्व की कोई भी सही तुला अवयव तथा अवयवी के भार में भेद नही बतला सकती। किन्तु यदि हम गुणात्मक दृष्टि से देखें तो क्या पूर्ण का भार अवयवों के भार का संग्रह मात्र है ? गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिक इस मत से पूर्ण रूपेण सहमत होगे कि अवयवी अवयवो से एक भिन्न सत्ता है। वह उनका समुदाय मात्र नही, एक नयी उत्पत्ति है। अतः बौद्धों का यह आग्रह कि अवयवी को अवयवों से भिन्न किसी भी प्रकार नहीं माना जा सकता, स्वीकार नही किया जा सकता। नैयायिक यहाँ ठीक ही लगते हैं। यह स्पष्ट है कि अवयव का अनुभव अवयवी से भिन्न होता है। इस बात को जैसाकि हम देख चुके हैं, बौद्ध भी अस्वीकार नही करते। प्रश्न यह है कि क्या अनुभव-भेद के आधार पर ही वस्तु-भेद मानना आवश्यक है ? नैयायिक वस्तुवादी हैं तथा उनका सारा वस्तुवाद सामान्य अनुभव को ही आधार मान कर प्रतिपादित किया गया है। ऐसी स्थिति में उनका अवयव तथा अवयवी को भिन्न-भिन्न वस्तु के रूप में स्वीकार करना उनके दर्शन के अनुकूल ही है। यदि पट-ज्ञान, तंतु-ज्ञान से भिन्न है तो ततु तथा पट भिन्न वस्तुएँ भी होनी चाहिए। इस सिद्धान्त को मान लेने पर अन्य कई कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं तथा अवयव-अवयवी की कठिनाई भी उनमें से एक है। सामान्य रूप से कोई भी व्यक्ति नैयायिकों के इस मत से तो सहमत हो जायेगा कि अवयव तथा अवयवी का ज्ञान भिन्न-भिन्न प्रकार का है, किन्तु वह इसीलिए इस निष्कर्ष को स्वीकार नही करना चाहेगा कि ये दोनों वास्तविक भिन्न-भिन्न निरपेक्ष सत्ताएँ हैं। वह इन में से एक को अथवा दोनो को ही बौद्धिक सत्ता कहना अधिक पसंद करेगा जैसाकि बौद्धों का कथन है न्याय मत का अवयव-अवयवी भेद उसके अतिवस्तुवाद पर आधारित है तथा बौद्ध, शंकर आदि दार्शनिक इस आधार को ही अस्वीकार करते हैं।

शंकर ने अवयव तथा अवयवी के मध्य समवाय सम्बन्ध को लेकर न्याय मत की कटु आलोचना की है। वे पूछते हैं कि यह समवाय अवयव तथा अवयवी से भिन्न है अथवा अभिन्न ? यदि भिन्न है तो समवाय तथा अवयव अथवा अवयवी को सम्बन्धित करने के लिए फिर से एक दूसरे समवाय की कल्पना करनी होगी जिसमें अनवस्था दोष होगा। यदि इनमे से किसी से वह अभिन्न है तब फिर ये असम्बन्धित ही रहेंगे। यदि यह कहा जाय कि समवाय सम्बन्ध होने के कारण अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा किए बिना ही समवायियों के साथ सम्बद्ध हो जायगा तथा इस प्रकार अनवस्था दोष से बचा जा सकता है तो शंकर का कहना है कि इसका यह अर्थ हुआ कि जहाँ भी सम्बन्ध है वहाँ पर बिना किसी अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा किए वस्तुएँ उस सम्बन्ध से

सम्बन्धित हो जानी चाहिए। किन्तु न्याय-वैशेषिक स्वयं इस तथ्य को स्वीकार नहीं करते। उदाहरणार्थ, न्याय-वैशेषिक संयोग को स्वतः ही वस्तुओं से सम्बन्धित होने वाला पदार्थ नहीं मानते। वे संयोग को उन वस्तुओं से जोड़ने के लिए जिनमें कि संयोग है, समवाय की कल्पना करते हैं। शंकर के कहने का तात्पर्य है, यदि सम्बन्ध स्वतः वस्तुओं से सम्बन्धित हो जाता है तब संयोग भी, जो एक सम्बन्ध है, स्वत. ही उन दो वस्तुओं से, जिनमें कि संयोग है, सम्बन्ध स्थापित कर लेगा। पर इसे न्याय-वैशेषिक स्वीकार नहीं करते। गुण-गुणी समवाय-सम्बन्ध से सम्बन्धित होते हैं। अतः संयोग के भी उन द्रव्यों से सम्बन्धित होने के लिए जिनमें कि संयोग है, समवाय की आवश्यकता मानी गई।

शंकर पुन. प्रश्न करते हैं कि अवयवी अवयवों मे किस प्रकार रहता है? यह समस्त अवयवो में सामूहिक रूप से रहता है अथवा प्रत्येक अवयव में अलग-अलग रूप से? यदि समस्त अवयवों मे सामूहिक रूप से उसकी स्थिति मानी जायगी तो अवयवी का प्रत्यक्ष असम्भव हो जायेगा क्योंकि अवयवी के सभी अवयवों का एक साथ प्रत्यक्ष कभी नहीं होता। पार्श्व भाग के अवयव सदैव दृष्टि से ओझल होते हैं। इसका उत्तर देते हुए नैयायिक यह तो स्वीकार करते हैं कि यह कहना तो ठीक है कि अवयवी के समस्त अवयवों का एक साथ प्रत्यक्ष असम्भव है, किन्तु इससे वे अपने मत को खंडित नहीं मानते। वे कहते हैं कि अवयवी के ज्ञान के लिए समस्त अवयवों के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। हां, जिन अवयवो का ज्ञान हमें हो रहा है वे इतने कम नहीं होने चाहिए कि हम अवयवी का ज्ञान प्राप्त नही कर सकें। यदि पर्याप्त मात्रा में अवयव दृष्टिगोचर हो रहे हैं तो अवयवी का ज्ञान उन कुछ अवयवों को देखकर हो सकता है। श्रीधर[1] का कथन है कि यदि अवयवी का बहुत कम भाग दृष्टिगोचर होता है तो उसका ज्ञान सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए, यदि कोई मनुष्य पूरा पानी में डूबा हुआ हो तथा सिर का केवल कुछ भाग ही ऊपर दिखलाई दे रहा हो तो यह मनुष्य है इस प्रकार का ज्ञान सम्भव नही है। नैयायिकों का यह उत्तर कुछ सीमा तक तो ठीक है किन्तु इससे जो अन्य निष्कर्ष निकलेंगे वे न्याय की मूलभूत मान्यताओं के विपरीत होने से नैयायिकों को कठिनाई मे डाल देंगे। उदाहरणार्थ, प्रथम तो न्याय को अवयवी को अनुमान का विषय मानना होगा। और फिर, चूंकि अनुमान के द्वारा किसी वस्तु की सत्ता तो सिद्ध की जा सकती है, किन्तु उसका स्वरूप तो प्रत्यक्ष के द्वारा ही जाना जाता है। ऐसी अवस्था मे अवयवी रहस्यमय कोई पदार्थ होगा जिसकी सत्ता के बारे मे तो अनुमान लगाया जा सकता है, किन्तु वह क्या है तथा कैसा है इसका किसी को कोई ज्ञान नहीं होगा। न्याय दृष्टि से यह तर्क नहीं दिया जा सकता कि उसके अलग-अलग भागों को जोड़ कर अवयवी का प्रत्यक्ष पूर्ण रूप हम जान सकते हैं क्योंकि न्याय मत मे अवयवी अवयवों का समूह या समुदाय

मात्र नहीं है। वह एक अत्यन्त नवीन तथा अवयवों से भिन्न वस्तु है। इन सब कठिनाइयों के कारण न्याय मत बौद्धों के बहुत समीप आ जायेगा जो अवयवी को एक कल्पित वस्तु मानते हैं।

पुनश्च, शंकर कहते हैं कि जब कोई वस्तु अनेक का आश्रय लिये हुए होती है तो एक के ग्रहण से उसका ज्ञान सम्भव नहीं है। उदाहरणार्थ, बहुत्व अनेक के आश्रय से रहता है तथा एक आश्रय को देख कर बहुत्व का ज्ञान सम्भव नहीं है। उसी प्रकार अवयवी जो अनेक अवयवों के आश्रय से रहता है, कुछ अवयवों के ज्ञान से सम्पूर्ण अवयवी का ज्ञान सम्भव नहीं है।

इसके विपरीत यदि यह माना जाए कि अवयवी प्रत्येक अवयव में रहता हुआ, समस्त अवयवों में रहेगा अर्थात् प्रत्येक अवयव में पूर्ण अवयवी व्याप्त है, इस प्रकार *मानें तो इसमें अनवस्था दोष आता है। अवयवी सदैव अवयवों वाला ही हो सकता* अर्थात् प्रत्येक अवयवी के अवयव अवश्य ही होंगे। ऐसी अवस्था में चूँकि प्रत्येक अवयव में पूर्ण अवयवी व्याप्त है इसके पुनः अन्य अवयव मानने होंगे तथा पुनः इन अवयवों के भी अन्य अवयव मानने होंगे। इससे अनवस्था दोष उत्पन्न होगा।

साथ ही एक ही अवयवी पूर्णरूपेण अनेक स्थान पर वर्त्तमान नहीं रह सकता। आगरा में रहता हुआ देवदत्त उसी समय पाटलीपुत्र में नहीं रह सकता तथा इसे यदि स्वीकार कर लिया जाए तो अवयवी एक नहीं अनेक सिद्ध होंगे। यदि इस पर नैयायिक यह तर्क करें कि जिस प्रकार गोत्व एक होते हुए भी पूर्णरूपेण प्रत्येक व्यक्ति में व्याप्त है तथा इसमें दोष नहीं है तो शंकर का उत्तर है कि प्रथम तो इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती है। प्रत्येक व्यक्ति में सामान्य या जाति का ज्ञान होता है। प्रत्येक व्यक्तिगत गाय पूर्ण गाय रूप में भासित होती है किन्तु प्रत्येक अवयव पूर्ण अवयवी रूप में कदापि भासित नहीं होता। इस प्रकार यदि प्रत्येक अवयव के साथ सम्पूर्ण अवयवी का सम्बन्ध है तो प्रत्येक अवयव को सम्पूर्ण अवयवी का कार्य संपादन करना चाहिए तथा गाय के सींग से भी दुग्ध प्राप्त हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं है। इस सम्बन्ध में बौद्ध दार्शनिकों का भी कथन है कि यदि अवयवी को *प्रत्येक अवयव में पूर्णरूपेण व्याप्त मान लें तो या तो अवयवी पूर्ण अवयवी से भी* अधिक हो जाएगा अथवा अन्य अवयव बिना अवयवी के रह जाएँगे। यदि प्रत्येक अवयव में अवयवी को आंशिक रूप से विद्यमान मानें तो अवयवी के कुछ अन्य अवयव भी माने जाएँगे तथा पूर्ण अवयवी का ज्ञान ही असंभव हो जाएगा जैसा कि हम पहले देख चुके हैं।

उद्योतकर का कथन है कि एक के अनेक में व्याप्त होने का अवयव अवयवी ही एक मात्र उदाहरण नहीं है। द्वित्व, पृथक्त्व, संयोग, वियोग, सामान्य आदि अन्य कई पदार्थ

भी अनेक में व्याप्त होते हैं। शंकर कि अद्वैत को ही स्वीकार नहीं करते, उनके लिए इस तर्क का कोई अर्थ नहीं है तथा ऊपर दिए हुए सभी तर्कों से वे उपर्युक्त सभी पदार्थों के उनके आश्रय से भिन्न होने की धारणा का खंडन करते हैं।

एक अन्य मुख्य आपत्ति जो न्याय वैशेषिक मत के विरुद्ध उठाई जा सकती है वह यह है कि यदि अवयव तथा अवयवी दो भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं तो वे दोनों एक ही देश में कैसे रह सकते हैं ? नैयायिक स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि दो मूर्त द्रव्य एक ही देश में नहीं रह सकते। किन्तु वे इस विषय में कह सकते हैं कि एक ही देश से उनका तात्पर्य स्थान या जगह न होकर आश्रय से है तथा तंतु एवं पट का एक ही आश्रय नहीं है। तंतु का आश्रय कपास तथा पट का आश्रय तंतु है। किन्तु इससे एक ही स्थान घेरने की समस्या का समाधान नहीं हो जाता। इस आपत्ति से वे केवल यह कहकर बच सकते हैं कि जहाँ दो द्रव्य समवाय सम्बन्ध से जुड़े हुए हों वहाँ यह सिद्धान्त कि दो द्रव्य एक ही स्थान नहीं घेर सकते, लागू नहीं होता। किन्तु क्या इससे शंकर के इस मत की पुष्टि नहीं हो जाती कि इन दोनों में अभिन्नत्व है ?

न्याय वैशेषिक मानते हैं कि कोई भी अवयवी दो जाति के अवयवों से उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि इसमें जाति सांकर्य का दोष आ जाता है। न्याय मत के अनुसार दो जातियाँ जिनका सम्बन्ध जाति तथा उपजाति का न हो कभी भी एक साथ नहीं रह सकतीं। अश्वत्व तथा गोत्व एक साथ नहीं रह सकते। अश्वत्व तथा गोत्व एक साथ एक वस्तु में स्थित नहीं हो सकते। किन्तु इससे उनकी अवयवी की मूल धारणा से विरोध उत्पन्न होता है। हम देख चुके हैं कि जहाँ विभिन्न अवयव मिलकर इस प्रकार का व्यूह बना कि वे एक नये प्रयोजन के पूरक तथा नए गुणों के उत्पादक हों तो वहाँ पर वह संग्रह समुदाय मात्र न रहकर अवयवी को जन्म देता है। व्यवहार में हम प्रायः देखते हैं कि विभिन्न जाति के द्रव्य सामूहिक रूप से मिल कर इस प्रकार के एक नए अवयवी को जन्म देते हैं। बारूद जो विभिन्न जाति के द्रव्यों का संग्रह है समुदाय मात्र नहीं कहा जा सकता। निश्चित ही यह न्याय दृष्टि से भी अवयवी ही कहा जाना चाहिए।

जैसा कि हम प्रारम्भ में चर्चा कर चुके हैं, किसी भी भारतीय दर्शन में कार्य-कारण सिद्धान्त का उनकी तत्त्व-मीमांसा से अत्यन्त ही घनिष्ट सम्बन्ध है। वास्तव में ये दोनों प्रश्न इस प्रकार से सम्बन्धित हैं कि यह निर्णय करना कठिन है कि कार्य-कारण के सम्बन्ध से सत्ता का स्वरूप फलित होता है अथवा सत्ता के स्वरूप से कार्य कारण का सिद्धान्त। बौद्ध दर्शन में भी आसानी से एक से दूसरे को फलित किया जा सकता है। बौद्धों का तर्क है कि कारण का अर्थ ही यह है कि वह कार्य को उत्पन्न करे। यह कहना विरोधात्मक है कि कारण है, किन्तु वह कार्य को उत्पन्न नहीं कर रहा। यदि इस तर्क को स्वीकार कर लिया जाय तो अर्थ-क्रिया-कारित्व का

में सत्ता का लक्षण तथा उसका क्षणिक होना स्वतः ही फलित होता है। कोई वस्तु है इसका अर्थ ही यह है कि वह अपने अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करे। यदि सामने अग्नि है तो इसका अर्थ ही यह है कि अग्नि के अनुकूल प्रभाव वह वस्तु उत्पन्न कर रही है। इस दृष्टि से प्रत्येक वस्तु स्वभावतः ही कारण है तथा अपने अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करने को शक्ति उसमें स्वभावतः है। अर्थात् अर्थ-क्रिया-कारित्व सत् वस्तु का लक्षण है। साथ ही साथ कारण का कार्य भी यदि सत् है तो वह भी उसी क्षण कारण रूप होकर कार्य उत्पन्न करेगा इस प्रकार सत् क्षणिक तथा अर्थ-क्रिया-कारित्व युक्त है। वह सहज ही कारण के स्वरूप से फलित होता है।

इस प्रकार, बौद्ध मत के अनुसार वस्तु या सत् क्षणों का एक निरन्तर प्रवाह है। बौद्धों का कहना है कि कारण रूप पूर्व क्षण तथा कार्य रूप उत्तर क्षण में कोई समान तत्त्व नहीं होता और न ही कारण के कार्य-रूप मे परिवर्तित होते समय किसी प्रकार की कोई शक्ति या तत्त्व कारण से कार्य मे गमन करता है। पूर्व-क्षण तथा उत्तर-क्षण एक-दूसरे से पूर्णरूपेण भिन्न तथा अलग-अलग होते हैं जिनमें सिवाय आवश्यक पूर्ववर्तिता तथा उत्तर-वर्तिता के कोई अन्य सम्बन्ध नहीं होता। उनके अनुसार ज्योंही कोई वस्तु जिसे वे क्षण कहते हैं, उत्पन्न होती है, नष्ट हो जाती है तथा उसके स्थान पर अन्य क्षण की नई उत्पत्ति हो जाती है। वे अवश्य मानते हैं कि इस पूर्व क्षण तथा उत्तर-क्षण मे आवश्यक सम्बन्ध है अर्थात् इस पूर्व-क्षण के पश्चात् यही निश्चित उत्तर-क्षण उत्पन्न हो सकता है अन्य नहीं। ऐसा होने से ऐसा होगा तथा ऐसा ही होगा, यह नियम समस्त बौद्ध दर्शन का आधार है। भगवान बुद्ध का मुख्य उद्देश्य चार आर्य सत्यों का प्रतिपादन था जिससे ससार के दुःखो का कारण खोज उन्हें दूर करने के उपायों का पता लगाया जा सके। यदि इस कार्य-कारण सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया जाय तब इन कारणो की खोज तथा उनका निरास सिद्धान्त असम्भव हो जाता है।

इस प्रकार कुछ सीमा तक न्याय तथा बौद्ध मत समान सिद्धान्त कहे जाते हैं। दोनों असत् कार्यवादी हैं। दोनों के अनुसार कारण तथा कार्य भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं तथा कार्य की उत्पत्ति से पूर्व-कारण मे कार्य की किसी भी रूप मे विद्यमानता नहीं होती। दोनो मे कार्य एक पूर्णरूपेण नई उत्पत्ति है।

नैयायिक कारण तथा कार्य दोनो का सह अस्तित्व स्वीकार करते हैं। कार्य के उत्पन्न होने पर कारण नष्ट नहीं होता। बौद्ध दार्शनिक इस मत को अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि कारण-कार्य का सम्बन्ध ही एक स्थिति का दूसरी स्थिति में परिवर्तन है। मान लीजिए, हमारे सामने कोई वस्तु है तथा बिना इस वस्तु मे किसी प्रकार का परिवर्तन लाए यहाँ एक अन्य वस्तु और उत्पन्न हो जाती है तब उन दोनों मे कार्य-कारण का सम्बन्ध नहीं स्वीकार किया जा सकता। कार्य के उत्पन्न होने के

लिए उनके अनुसार पूर्वावस्था, जो कारण कहलाती है, का नाश होना आवश्यक है। इसीलिए उनके मत को न्याय मत से भिन्न करने के लिए असत् कारणवाद की संज्ञा दी जाती है।

तार्किक दृष्टि से बौद्ध मत न्याय मत का निष्कर्ष अथवा विकास है। यदि हम असत् कार्यवाद को गम्भीरता से लें तथा उसके तार्किक निष्कर्ष पर ध्यान दें तो हमें बौद्धों का असत् कारणवाद फलित होता दिखलाई देगा। सांख्य दार्शनिकों के विरुद्ध नैयायिक तर्क करते हैं कि बीज तथा अंकुर एक ही वस्तु के दो विभिन्न रूप या अवस्थाएँ नहीं हैं वरन् दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। अंकुर के लिए पहले बीज को नष्ट करना पड़ता है। पूर्व व्यूह जो बीज को आश्रित किए था, नष्ट होता है तथा एक दूसरा व्यूह उत्पन्न होता है जो अंकुर का आश्रय होता है। यहाँ प्रश्न होता है कि कारण किसे कहेंगे? क्या किसी भी घटना की पूर्ववर्ती स्थिति कारण नहीं है? यदि है तो अंकुर की पूर्ववर्ती स्थिति तो बीज है तथा न्याय तर्क के अनुसार बीज तथा अंकुर का सह-अस्तित्व होना चाहिए था जो नहीं होता। वास्तव में बीज का नाश करके ही अंकुर की उत्पत्ति हो सकती है तथा इस प्रकार बौद्धों का यह मत कि कारण का विनाश ही कार्य की उत्पत्ति में प्रयोजक है, फलित होता है।[1]

किन्तु, इस पर नैयायिक कह सकते हैं कि कारण न तो कुंडल है और न स्वर्ण। बल्कि कारण तत्त्व का एक व्यूह विशेष है तथा इस व्यूह विशेष तथा उसके कार्य विशेष का सदैव ही सह-अस्तित्व होता है। किन्तु फिर यहाँ प्रश्न है कि यह व्यूह सभी प्रकार के व्यूहों को नष्ट करने पर ही उत्पन्न हो सकता है अथवा इसका अन्य व्यूहों के साथ सह-अस्तित्व सम्भव है। यहाँ पर हम देखेंगे कि न्याय एक निश्चित हाँ अथवा ना उत्तर नहीं दे सकता। जहाँ वह द्व्यणुक, त्रिसरेणु फिर पृथ्वी तत्त्व, फिर स्वर्ण-तत्त्व आदि रूप में कुंडल आदि के साथ सह-अस्तित्व स्वीकार करेगा, कुंडल तथा कंगन के व्यूहों का सह-अस्तित्व स्वीकार नहीं कर सकेगा। परन्तु इन दोनों प्रकार के व्यूहों में वह भेद किस आधार पर करेगा? वास्तव में जब स्वर्ण से सीधा कंगन तैयार किया जाता है तब पूर्ण व्यूह का नाश आवश्यक नहीं है किन्तु कुंडल से जब कंगन तैयार किया जाता है तो इस पूर्व व्यूह का नाश आवश्यक है। एक दृष्टि से ये दोनों ही व्यूह पूर्ववर्ती स्थिति है, फिर क्या कारण है कि स्वर्ण रूप में व्यूह के नाश की आवश्यकता नहीं है जबकि कुंडल रूप में व्यूह का नाश आवश्यक है। यहाँ पर न्याय यह उत्तर दे सकता है कि कुछ व्यूहों में सामंजस्य होने से उनमें अविरोध है अतः उनका सह-अस्तित्व सम्भव है जबकि कुछ अन्य व्यूहों में असामंजस्य होने से विरोध है तथा इसीलिए उनका सह-अस्तित्व सम्भव नहीं है। स्वर्ण रूपी व्यूह तथा कंगन रूपी व्यूह दोनों अविरोधी होने से साथ-साथ रह सकते हैं जबकि कुंडल तथा कंगन के व्यूह परस्पर विरोधी होने से सह-अस्तित्व नहीं रख सकते।

किन्तु न्याय अवयव तथा अवयवी को पूर्णरूपेण भिन्न तत्त्व मानते हैं तथा इस दृष्टि से सभी पदार्थ एक-दूसरे से पूर्णरूपेण भिन्न सिद्ध होंगे तब किस आधार पर कुछ व्यूहों के विरोधी तथा कुछ अन्य व्यूहों के अविरोधी होने की कसौटी निर्धारित होगी? इस कठिनाई के निवारणार्थ न्याय समवाय का सहारा लेते हैं। उनका कहना है कि कंगन स्वर्ण में समवाय सम्बन्ध से रहता है किन्तु कुंडल से उसका समवाय सम्बन्ध सम्भव नहीं है। इसी कसौटी पर विरोधी तथा अविरोधी व्यूह का भेद वे सम्भव मानते हैं। किन्तु वास्तव मे देखा जाय तो न्याय का यह उत्तर कोई व्याख्या नहीं है, वस्तुस्थिति का कथन मात्र है। यह तो स्पष्ट ही है कि स्वर्ण तथा कंगन का एक ही देशकाल मे सह-अस्तित्व सम्भव होता है, किन्तु कंगन तथा कुंडल का नही। यहाँ पर न्याय से यह प्रश्न पूछना उचित ही है कि जब वे स्वर्ण को भी कंगन से उसी प्रकार का भिन्न तत्त्व स्वीकार करते हैं जिस प्रकार का कुंडल को, तब स्वर्ण के व्यूह में ऐसी क्या विशेषता है जिसके कारण उसका कंगन के साथ अविरोध है तथा किन अन्य विशेषताओं के कारण कंगन का कुंडल से विरोध है? न्याय इस प्रश्न का उत्तर नही देता। स्पष्टतः न्याय को या तो सांख्य आदि सत् कार्यवादियों की भाँति यह स्वीकार करना होगा कि कार्य का कारण तत्त्व के साथ सह-अस्तित्व तथा उसके अन्य नाम रूप वाले कार्यों के साथ अनस्तित्व होता है। एक ही वस्तु में एकसाथ दो रूप नही हो सकते अतः कुंडल का नाश कंगन की उत्पत्ति के लिए आवश्यक है क्योंकि वास्तव में कुंडल स्वर्ण का ही एक नाम रूप विशेष है। कंगन के लिए स्वर्ण चूंकि उसका तत्त्व है अतः उसका रहना आवश्यक है किन्तु साथ ही कुंडल का नाश भी आवश्यक है।

अथवा उन्हें बौद्धों की भाँति यह मानना होगा कि वास्तव में किसी भी स्थिति में कार्य-कारण का सह-अस्तित्व असम्भव है। कंगन की उत्पत्ति के लिए इसकी पूर्ववर्ती अवस्था का चाहे वह स्वर्ण रूप हो अथवा कुंडल रूप, नाश आवश्यक है।

व्यूह को कारण मानने में जो एक अन्य कठिनाई उत्पन्न होती है वह है कि यह व्यूह कहाँ समवेत होता है। व्यूह को ही कारण रूप मानने पर यह ही कहना होगा कि यह व्यूह भी इसके कारण रूप किसी अन्य व्यूह में समवेत होगा तथा इस प्रकार अनन्त व्यूह की कल्पना करने पर ही हम उसके अवयव रूपी कारण पर पहुँच पायेंगे। यदि बौद्धों के असत् कारणवाद को स्वीकार कर लिया जाय तो ये कठिनाइयाँ उत्पन्न नहीं होतीं।

नैयायिक यह भी मानते हैं कि अवयव-व्यूह मे तनिक भी परिवर्तन कर देने से वह पुराना व्यूह नष्ट हो जाता है। तथा उसके स्थान पर नवीन व्यूह उत्पन्न होता है तथा फलस्वरूप वहाँ नया अवयवी भी उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी पट के किसी टुकड़े में से एक भी धागा निकाल या जोड़ दिया जाए तो वह प्राचीन

वस्त्र नष्ट होकर एक नवीन वस्त्र की उत्पत्ति होती है। ऐसा मानने से कारण में न कुछ जोड़ा जा सकता है और न कुछ घटाया जा सकता है। तथा, जब कारण-कार्य को उत्पन्न करने के पश्चात् भी ठीक वैसा ही रहता है जैसा पहले था, उसमें तनिक भी परिवर्तन नहीं होता तब यह कहने का क्या अर्थ है कि कारण का कार्य को उत्पन्न करने मे किसी प्रकार का योगदान है ?

न्याय-वैशेषिक मत के अनुसार कारण तथा कार्य मे तत्व की तारतम्यता नहीं है। सांख्य आदि सत् कार्यवादियों की तरह वह नहीं मानता कि कारण तत्व रूप से कार्य में विद्यमान रहता है। किन्तु ऐसी अवस्था मे कारण तथा कार्य में कुछ भी समान नहीं रह जाता तथा कारण तथा कार्य में मात्र पूर्ववर्तिता तथा उत्तर-वर्तिता का सम्बन्ध रह जाता है जैसा कि बौद्ध दार्शनिक मानते हैं।

यह स्पष्ट है तथा श्रीधर स्वयं इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि जैविक शरीर हर क्षण नया उत्पन्न होता है। प्रति क्षण उसमें नये कोषाणु की उत्पत्ति होती रहती है तथा कुछ पुराने कोषाणु नष्ट होते रहते हैं इस प्रकार, शरीर का व्यूह प्रतिक्षण नवीन होने से नवीन शरीर की उत्पत्ति माननी होगी। अजीव पदार्थों में भी कुछ न कुछ परिवर्तन हर क्षण होता ही रहता है यद्यपि यह परिवर्तन सूक्ष्म होने से प्रतीत नहीं होता। इस दृष्टि से अजीव पदार्थों के भी व्यूह में हर क्षण भिन्नता माननी होगी तथा इस प्रकार न्याय मत क्षणिकवाद में रूपांतरित हो जायगा।

न्याय मत में कार्य-कारण रूप परिवर्तन विभिन्न संयोग से उत्पन्न व्यूह में निहित है। समुदाय तथा अवयवी के भेद को न्याय मत भी पूर्ण रूपेण सिद्ध नहीं कर सकता, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं। किन्तु तब जगत की प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तुओं से किसी न किसी प्रकार का संयोग करती ही रहती है तथा ये संयोग हर क्षण बदलते रहते हैं। इस प्रकार, हर क्षण नये-नये संयोगों से नये-नये जगत् की उत्पत्ति बौद्धों का क्षणिकवाद ही है।

न्याय मत मानता है कि समवायी कारण अपने में निष्क्रिय है तथा निमित्त कारण की सहायता से उसमें कार्य उत्पन्न किया जाता है। बौद्ध दार्शनिक कहते हैं कि ऐसी अवस्था में समवायी कारण को मानने की आवश्यकता ही क्या है, निमित्तादि कारणों को ही कारण में सम्मिलित किया जाना चाहिए। किन्तु चूंकि ऐसा नहीं होता, समवायी कारण को भी निष्क्रिय न मानकर सक्रिय स्वीकार करना होगा। यह मत बौद्ध मत के बहुत समीप आ जाता है। बौद्ध दर्शन वस्तु में अर्थ-क्रिया-कारित्व को स्वीकार करते हैं तथा इस प्रकार उनके अनुसार कारण निष्क्रिय नहीं है।

बौद्धों के अनुसार न्याय मत केवल कल्पना पर आधारित है। जिस प्रकार हम कुम्हार को मिट्टी के घट बनाते हुए देखकर बिना परिस्थिति का भली प्रकार विश्लेषण किए कोई सामान्य धारणा बना लेते हैं, नैयायिकों ने भी कर लिया है। जैसाकि हम

ऊपर देख चुके हैं, यदि हम परिस्थिति का भली प्रकार विश्लेषण कर उसके तार्किक निष्कर्ष की ओर ध्यान दें तो हमें बौद्धों का प्रतीत्य समुत्पाद ही फलित हुआ दिखलाई देगा।

किन्तु वास्तव मे बौद्ध दर्शन में भी कारण-कार्य के सम्बन्ध की व्याख्या असम्भव है। इससे तो वस्तुतः कारण-कार्य सम्बन्ध का निषेध ही होता है। जब दो घटनाओं में सिवा पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती होने के अन्य कोई सम्बन्ध है ही नही तब वे कारण-कार्य रूप में संबंधित कैसे कहे जा सकते हैं। फिर तो प्रत्येक घटना उसकी किसी भी पूर्ववर्ती घटना का कार्य कही जायेगी। चूंकि इस प्रकार अनन्त घटनाएँ हर क्षण घटती रहती हैं यह कैसे निर्धारित होगा कि इनमे से कौनसी घटना विशेष किस घटना विशेष का कारण अथवा कार्य है ? बौद्ध दार्शनिक इस समस्या का समाधान आवश्यक सम्बन्ध तथा अनावश्यक-सम्बन्ध के भेद को प्रदर्शित कर करते हैं। यद्यपि यह बात ठीक है कि असंख्य घटनाएँ हर क्षण घटती रहती हैं तथा इस प्रकार असंख्य पूर्ववर्ती घटनाओं के बाद असंख्य ही उत्तरवर्ती घटनाएँ घटित होती देखी जाती हैं, किन्तु इनमें से कुछ घटनाओं में आवश्यक सम्बन्ध होता है तथा कुछ अन्य घटनाओं मे इस प्रकार का आवश्यक सम्बन्ध नहीं होता। तथा जिन घटनाओं के बीच यह आवश्यक सम्बन्ध होता है वे कार्य-कारण रूप से सम्बन्धित मानी जाती हैं तथा अन्य घटनाएँ जिनमें सम्बन्ध आवश्यक नही होता इस प्रकार से सम्बन्धित नही मानी जा सकती।

किन्तु यहाँ पर एक अन्य कठिनाई सामने आती है। बौद्धों के अनुसार सद् स्वलक्षण है। तथा वह क्षणिक भी है। कोई भी एक क्षण दूसरे क्षण से भिन्न तथा स्वतन्त्र है तथा उन क्षणो का एक निरन्तर प्रवाह है तथा ऐसी अवस्था में यह समझ में नहीं आता कि आवश्यक सम्बन्ध का क्या अर्थ है तथा इसका निर्धारण किस प्रकार किया जा सकता है ? क का ख के साथ आवश्यक सम्बन्ध है यह कथन इस स्थिति में निरर्थक हो जाता है। नियत तथा आवश्यक-सम्बन्ध की बात वहीं की जा सकती है जहाँ घटनाओं में स्वरूपतः तादात्म्य अथवा समानता हो। उस समानता के आधार पर ही नियत साहचर्य की बात की जा सकती है जिससे उनमे आवश्यकता का सम्बन्ध फलित होता है।

बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत दो विकल्प प्रस्तुत होते हैं। प्रथम तो यह स्वीकार कर सकते हैं कि हर क्षण चूंकि भिन्न तथा स्वतन्त्र हैं प्रत्येक क्षण अपना एक प्रवाह है, उसकी अपनी शृंखला है। क क्षण क, क$_2$, क$_3$, क$_4$, आदि को जन्म देता है तथा इसी प्रकार अन्य ख$_1$, ख$_2$, ख$_3$, ख$_4$, आदि स्वतन्त्र शृंखलाएँ घटित होती रहती हैं। इस विकल्प में मुख्य ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस स्थिति मे एक शृंखला दूसरी शृंखला से किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं होती। न ही वह किसी अन्य शृंखला

को प्रभावित करती है। किन्तु बौद्ध दार्शनिक इस विकल्प को स्वीकार नहीं करते। इस विकल्प की अपनी कठिनाइयाँ हैं। इस विकल्प से हमारे आनुभविक जगत् के किसी भी घटना की व्याख्या सम्भव नहीं है। न शरीर रूप में संघात ही संभव है और न बाह्य जगत् की व्यवस्थित इकाईयाँ, ऐसी अवस्था में बौद्ध दर्शन लगभग लाइबनिज के चिद् बिन्दुवाद जैसा ही हो जायेगा किन्तु लाइबनिज को अपने दर्शन को तर्कयुक्त बनाने के लिए ईश्वर जैसे प्रत्यय तथा पूर्व स्थापित सामंजस्य जैसी पूर्व मान्यताएँ स्वीकार करनी पड़ी थी जो बौद्ध दर्शन में कदापि स्थान नहीं पा सकती, तथा यदि उन्हें वहाँ थोप दिया जाए तो बौद्ध दर्शन का स्वरूप ही मूलतः बदल जायेगा।

दूसरा विकल्प जो बौद्ध दार्शनिक वास्तव में स्वीकार करते हैं वह है कि सभी पूर्ववर्ती क्षण मिल कर किसी भी उत्तरवर्ती क्षण को जन्म देते हैं। तथा जब वे इस प्रकार सम्पूर्ण पूर्व क्षणों को किसी भी कार्य के कारण-रूप में स्वीकार करते हैं तब यह सिद्धान्त और भी हास्यास्पद हो जाता है। जैसा कि कहा जा चुका है, बौद्ध-दर्शन में प्रत्येक क्षण एक दूसरे से भिन्न तथा स्वतन्त्र है तथा किसी भी व्यवस्थित करने वाले सिद्धान्त के लिए इस दर्शन में कोई स्थान नहीं है। अस्तु, यह तो माना जा सकता है कि प्रत्येक क्षण की अपनी शृंखला है, किन्तु यह स्थिति यहाँ मान्य नहीं हो सकती कि सभी पूर्व-क्षण सामूहिक रूप से मिलकर किसी क्षण विशेष को जन्म देंगे। क्षणों के मिलने, मिलने के लिए सहयोग करने तथा सामूहिक रूप से कार्य विशेष को जन्म देने की कल्पना बौद्ध दर्शन में असिद्ध है।

फिर यहाँ पर प्रश्न उठेगा कि समस्त पूर्व-क्षण मिलकर सामूहिक रूप से प्रत्येक क्षण को अलग-अलग रूप से जन्म देते हैं अथवा पूर्व-क्षण अनेक इकाईयों के रूप में व्यवस्थित होकर अनेक उत्तरवर्ती इकाइयों को जन्म देते हैं, या फिर समस्त पूर्व-क्षण सामूहिक रूप से समस्त उत्तर-क्षणों को एक इकाई के रूप में ही उत्पन्न करते हैं? प्रथम अवस्था में उत्तर-क्षणों की भिन्नता फलित नहीं हो सकती। जब समस्त पूर्व-क्षण संगठित होकर एक इकाई के रूप में कारण का कार्य कर रहे हैं तो वे सुव्यवस्थित इकाई को ही जन्म दे सकते हैं। या फिर मान लें, अनेक इकाइयों को भी जन्म दें तो उन सभी इकाइयों का एक ही इकाई कारण होने से उनमें भिन्नता नहीं लाई जा सकती। दूसरी स्थिति में क्षणों की सीमा मात्र बढ़ गई है। अब क्षण अकेला न रहकर कुछ जटिल बन गया है, किन्तु इस स्थिति में उन दोनों मतों के दोष इसमें आ गए हैं। प्रथम तो, इसमें भी एक इकाई की दूसरी इकाई से अन्तःक्रिया के लिए कोई स्थान नहीं होगा। प्रत्येक इकाई अपने में स्वतन्त्र, पूर्ण तथा एक दृष्टि से गवाक्ष-हीन होगी तथा आनुभविक जगत् की व्याख्या करने में उसी प्रकार असमर्थ होगी जिस प्रकार प्रत्येक क्षण की अलग-अलग शृंखला। यदि इन सब कठिनाइयों को दूर करने

के लिए इकाई का विस्तार कर दिया जाए तो अंततः हम तीसरे विकल्प की स्थिति में पहुँच जायेंगे जहाँ सम्पूर्ण पूर्व-क्षण सामूहिक रूप से सम्पूर्ण उत्तर-क्षण को जन्म देंगे। साथ ही इस मत में यह भी दोष होगा कि आखिर हम इन इकाइयों को किस आधार पर निर्मित करेंगे ? हम देख चुके हैं कि बौद्ध-दर्शन किसी भी व्यवस्था अथवा व्यवस्थित करने वाले सिद्धांत को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं है और इसलिए इस प्रकार की छोटी इकाइयों की भी बात हम नही कर सकते। तीसरे, यदि यह माना जाए कि समस्त पूर्व-क्षण एक इकाई के रूप में सामूहिक रूप से समस्त उत्तर-क्षणों को उत्तर-क्षणों के रूप मे ही जन्म देते हैं तब इससे जिस प्रकार के दर्शन की उत्पत्ति होगी वह बौद्ध-दर्शन के स्वरूप से बिल्कुल भिन्न प्रकार का होगा। प्रथमतः उसमें सदैव प्रतिक्षण एक जगत् का नाश तथा दूसरे जगत् की उत्पत्ति होगी तथा इससे हमारे अनुभव में जो निरंतरता है उसकी व्याख्या असंभव हो जायेगी। कार्य-कारण की बात इस व्यवस्था में उसी प्रकार निरर्थक हो जायेगी जिस प्रकार एक क्षण तथा दूसरे क्षण में मात्र पूर्ववर्तिता तथा उत्तरवर्तिता का सम्बन्ध मानने पर हो जाती है तथा यहाँ पर आवश्यक-सम्बन्ध के रूप में कारण-कार्य-सम्बन्ध का प्रत्यय निरर्थक हो जायेगा।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि यदि कार्य की पूर्णरूपेण नई सत्ता मानी जाय जैसा कि न्याय तथा बौद्ध स्वीकार करते हैं तो कार्य-कारण-सम्बन्ध की समुचित व्याख्या नही हो सकती। इसीलिए सांख्य तथा वेदान्त दर्शन असत् कार्यवाद अथवा आरम्भवाद को अस्वीकार कर सत् कार्यवाद की स्थापना करते हैं

सांख्य दर्शन की प्रसिद्ध पुस्तक सांख्य कारिका मे सत् कार्यवाद के पक्ष में ईश्वर कृष्ण निम्न मुख्य पाँच प्रमाण देते हैं।[1] प्रथम, उनका कहना है कि जो सर्वथा असत् है उसकी कभी उत्पत्ति सम्भव नही है। यह तर्क गीता के उस प्रमाण की तरह है[2] जहाँ उसमे कहा गया है कि किसी भी असत् पदार्थ का कभी भाव नहीं हो सकता तथा किसी सत् पदार्थ का कभी अभाव भी नहीं हो सकता। इस प्रकार वे पूर्णरूपेण नई उत्पत्ति सर्वथा असम्भव मानते हैं। यह मत उस वैज्ञानिक मत से सुसंगत है जिसके अनुसार तत्व का सर्वथा नाश अथवा उत्पत्ति असम्भव है।

दूसरे, उनका कहना है कि यदि कार्य की कारण मे किसी भी प्रकार से पूर्व-विद्यमानता न मानें तब कार्य विशेष के लिए कारण विशेष के चुनाव की क्या आवश्यकता है ? कारण में कार्य की अनुपस्थिति का अर्थ है शून्य में से किसी वस्तु को उत्पन्न करना तथा अभाव तो सर्वथा विद्यमान है ही, फिर उसके लिए उपादान कारण की आवश्यकता क्यों होनी चाहिए।

1. ईश्वरकृष्ण : सांख्य कारिका, कारिका 1।
2. भगवद्गीता, 2,16।

तीसरे, यदि कार्य की कारण में पूर्व-विद्यमानता न मानी जाए, तो उससे यह निष्कर्ष निकलेगा कि सभी पदार्थों से सभी पदार्थों की उत्पत्ति सम्भव होनी चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं है। और इसलिए भी कार्य की कारण में पूर्व स्थिति स्वीकार करना आवश्यक है।

चौथे, यदि हम कार्य-कारण-सम्बन्ध का भली प्रकार विश्लेषण करें तो देखेंगे कि कारण से कार्य की उत्पत्ति का अर्थ ही यह है कि कारण में कार्य उत्पन्न करने की शक्ति है। यह शक्ति क्या है ? वास्तव में यह शक्ति ही सूक्ष्म अथवा अव्यक्त रूप में कार्य है जो निमित्त कारण से प्रभावित होकर कार्य-रूप में व्यक्त होती है। यदि हम कारण में कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति का ही निषेध करें तो विरोधाभास होगा क्योंकि एक ही साथ हमें इन दो कथनों को स्वीकार करना होगा कि यद्यपि कारण में कार्य उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है किन्तु फिर भी वह उसे उत्पन्न कर रहा है।

पाँचवें, ईश्वरकृष्ण तर्क करते हैं कि कारण तथा कार्य भावरूप से एक ही हैं। मिट्टी तथा घट, स्वर्ण तथा आभूषण, तन्तु तथा पट तत्त्व की दृष्टि से अभेद रूप हैं।

शंकराचार्य ने भी अपने ब्रह्म सूत्र भाष्य[1] में असत् कार्यवाद का खण्डन कर सत् कार्यवाद को सिद्ध करने के लिए तर्क प्रस्तुत किए हैं। उनका कहना है कि यदि कार्य उत्पत्ति से पूर्व असत् है तो उसकी उत्पत्ति कर्तृ-रहित और निरात्मक हो जायेगी। उत्पत्ति क्रिया है तथा यह गति आदि क्रिया की भाँति सकर्तृक ही हो सकती है। क्रिया का अकर्तृक होना विरोधाभास है। उत्पत्ति की क्रिया एक ओर तो उस वस्तु की ओर संकेत करती है *जिसकी उत्पत्ति हो रही है, दूसरी ओर, उस आश्रय की ओर* जिससे उसकी उत्पत्ति हो रही है। गति किसी वस्तु में ही हो सकती है। चलने के लिए मनुष्य आवश्यक है जो चलता है। यदि मनुष्य ही नहीं है तो चलेगा कौन ? इसी प्रकार, यदि कार्य की पूर्व-सत्ता स्वीकार नहीं की जाए तो प्रश्न उठता है कि किसे उत्पन्न किया जा रहा है ? मिट्टी से घट की उत्पत्ति की जा रही है इसमें घट पहले से विद्यमान होना चाहिए जिसे उत्पन्न किया जा रहा है। जिस प्रकार मनुष्य के अभाव में उसकी गति असम्भव है उसी प्रकार कार्य के अभाव में उसकी उत्पत्ति भी, जो कि क्रिया है, सम्भव नहीं है। यद्यपि यह बात ठीक है कि न्याय तथा शंकर अथवा सांख्य इस सन्दर्भ में उत्पत्ति शब्द को भिन्न-भिन्न अर्थों में समझते हैं। न्याय के अनुसार उत्पत्ति का अर्थ है, 'जो नहीं है उसका उद्भव' जब कि शंकर व सांख्य के अनुसार उसका अर्थ है, 'जो है उसका अभिव्यक्तिकरण'। किन्तु तब भी उद्भव है तो क्रिया ही तथा शंकर के अनुसार यह उद्भव की क्रिया सकर्तृक ही होनी चाहिए। इस प्रकार, बिना कारण तथा कार्य की पूर्वसत्ता को स्वीकार किए 'कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है,' इस कथन का कोई अर्थ नहीं निकलता।

1. ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य 2. 1. 18.

यदि नैयायिक इसका यह उत्तर दें कि उत्पत्ति किसी आश्रय में क्रिया न होकर कार्य का कारण से अथवा अपनी सत्ता से सम्बन्धित होना है तो शंकर का कथन है कि यह उत्तर उचित नहीं है। जिसकी सत्ता ही नहीं है वह कारण के साथ कैसे सम्बद्ध होगा ? दो सत् पदार्थों का ही सम्बन्ध सम्भव है। सत् का असत् से अथवा एक असत् का दूसरे असत् से सम्बन्ध सम्भव नहीं है। साथ ही 'पूर्व स्थिति होना' अथवा 'न होना' यह कार्य की मर्यादा है तथा केवल सत् पदार्थ ही मर्यादित होते हैं असत् पदार्थ नहीं। "पूर्ण वर्मा के राज्याभिषेक के पूर्व वन्ध्यापुत्र राजा था।" इस प्रकार का कथन कोई अर्थ नहीं रखता।

इसी प्रकार, बौद्ध मत का खंडन करते हुए शंकर कहते हैं[1] कि दो क्षणों के बीच कार्य-कारण का सम्बन्ध असम्भव है। कारण को कार्य रूप मे विकसित होने के लिए उसकी कुछ क्षण स्थिति आवश्यक है। प्रथम तो यदि यह स्वीकार करें कि प्रथम क्षण का नाश ही उत्तर-क्षण का कारण है तो नष्ट हुआ प्रथम क्षण अभाव रूप होने से उत्तर-क्षण का कारण नहीं हो सकता। तथा यदि यह कहा जाय कि भाव रूप पूर्व-क्षण ही उत्तर-क्षण का कारण है, पूर्व-क्षण का नाश जो अभाव रूप है, नहीं—तब भाव रूप क्षण में व्यापार की कल्पना करनी होगी तथा पहले क्षण की उत्पत्ति फिर उसमें व्यापार इस प्रकार उसकी स्थिति कम-से-कम दो क्षण अवश्य ही माननी होगी। यदि बौद्धों का आशय हो कि कार्य की उत्पत्ति ही कारण का व्यापार है तब भी चूँकि उनके दर्शन मे कारण स्वभाव से ही कार्य से सम्बद्ध नहीं माना गया है, (दोनों क्षण आपस में स्वतन्त्र तथा भिन्न हैं) वह कार्य की उत्पत्ति किस प्रकार कर सकेगी तथा यदि कारण का कार्य से सम्बन्ध स्वाभाविक मान लें तब कारण तथा कार्य का सहअस्तित्व मानना होगा। बिना इस सह-अस्तित्व के ये दोनों आपस मे सम्बन्धित नहीं हो सकेंगे। किन्तु इससे उनका क्षणिकवाद नष्ट हो जायेगा। अन्त में, यदि कार्य-कारण मे किसी भी प्रकार का सम्बन्ध स्वीकार न करें तब कार्य-कारण भाव ही नष्ट हो जायेगा, फलतः हर वस्तु, हर वस्तु का कारण अथवा कार्य कही जा सकेगी।

शंकर आगे तर्क करते हैं कि उत्पत्ति तथा नाश वस्तु का स्वरूप माना जाय या स्वरूप से भिन्न बिलकुल अन्य वस्तु या उत्पत्ति तथा विनाश की मध्यवर्ती वस्तु की आदि और अंतिम अवस्थाएँ ? प्रथम विकल्प में उत्पत्ति तथा नाश दो विरोधी तत्त्व एक ही वस्तु के पर्याय हो जाने से विरोधाभास होगा। दूसरे विकल्प में उत्पत्ति तथा नाश वस्तु से भिन्न होने के कारण उनसे वह वस्तु अछूती रह जायेगी तथा वह नित्य होगी। तीसरी स्थिति में वस्तु का कम-से-कम तीन क्षण स्थित रहना आवश्यक होगा। चूँकि तीनों ही विकल्प बौद्धों को स्वीकार नहीं हैं, उनका मत युक्तियुक्त नहीं है।

1. ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य 2. 2. 20।

नैयायिकों के इस आक्षेप का कि यदि कार्य, कारण में पहले से विद्यमान है तो निमित्तादि कारणों की क्या आवश्यकता है तथा उनके रूप रंग आदि मे भिन्नता क्यों है, साथ ही, कारण भी कार्य रूप व्यवहृत क्यों नहीं होता; सांख्य दार्शनिक उत्तर देते हुए कहते हैं कि कारण में कार्य व्यक्त रूप से नहीं अव्यक्त रूप से विद्यमान होता है। इसीलिए इनके रूप आकार आदि में भी भेद होता है तथा वे समान रूप से व्यवहृत नहीं होते। निमित्तादि कारणों का प्रयोजन भी इस अव्यक्त को व्यक्त करने के लिए है।

सांख्य तथा अद्वैत-वेदान्ती दोनों सत्-कार्यवादी होते हुए भी, इनके मतो में मूलतः भेद है। सांख्य तथा विशिष्टाद्वैत आदि परिणामवादी हैं तथा अद्वैत वेदान्त विवर्तवादी।

परिणामवादियों के अनुसार कारण तथा कार्य तत्त्व की दृष्टि से एक ही हैं जैसा कि सांख्य कारिका में प्रयुक्त 'कारण भावाच्च' शब्द से स्पष्ट होता है। रामानुज के विशिष्टाद्वैत में भी जगत् ब्रह्म का परिणाम होते हुए भी तत्त्वतः ब्रह्म रूप ही रहता है। तब भी, कारण तथा कार्य एक ही तत्त्व की दो भिन्न-भिन्न तथा वास्तविक अवस्थाएँ हैं। कारण तथा कार्य दोनों ही सत् हैं। कारण कार्य रूप में परिणत होता है। कार्य कारण का विकार है, उसकी विकृति है। दूध तथा दही तत्त्व रूप से एक होते हुए भी अवस्था रूप से भिन्न-भिन्न हैं।

शंकर परिवर्तन को वास्तविक नहीं मानते। उनके अनुसार सत्ता नित्य, अपरिणामी तथा अपरिवर्तनशील है। तत्त्व मे किसी भी प्रकार का कोई विकास असम्भव है। अतः कार्य, कारण की नाम रूप आदि उपाधि मात्र है जिससे तत्त्व अक्षुण्ण तथा अप्रभावित बना रहता है। नाम रूप वास्तविक नहीं होते, उनमे वस्तु में कोई परिवर्तन नहीं होता। उदाहरण के लिए, आकाश मठाकाश, घटाकाश आदि के रूप में कार्य रूप ग्रहण करता है तो इससे आकाश किसी भी भाँति प्रभावित नहीं होता तथा वह वैसा ही रहता है जैसा पहले था। मठ तथा घट उसकी उपाधियाँ मात्र हैं। इसी प्रकार जब स्वर्ण कुण्डल तथा कंगन रूप कार्य को उत्पन्न करता है, कहा जाता है, तब स्वर्ण मे किसी प्रकार का कोई परिणाम अथवा विकार उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार, हम देखते हैं कि शंकर के अनुसार नाम रूप वास्तविक नहीं होते, उनसे वस्तु में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उसकी उस रूप मे प्रतीति भी नहीं होती। इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है कि स्वर्ण, कंगन, कुण्डल आदि रूप में प्रतीत होता है। इस रूप में इसका आदान सर्वमान्य है। इसीलिए इस सिद्धान्त को विवर्तवाद कहते हैं जिसका अर्थ है कि कार्य वास्तव मे कोई उत्पत्ति नहीं है, वह कारण की उस रूप में प्रतीति मात्र है। शंकर कार्य की व्यावहारिक उपयोगिता भी स्वीकार करते हैं। कंगन तथा कुंडल स्वर्ण रूप होते हुए भी व्यवहार की दृष्टि से भिन्न-भिन्न हैं। हर किसी आकार में स्वर्ण

कंगन अथवा कुंडल का प्रयोजन सिद्ध नहीं कर सकता। कंगन हाथ में ही पहने जायेंगे तथा कुंडल कान मे ही। इसीलिए कार्य की व्यावहारिक सत्ता भी शंकर ने स्वीकार की है। अतः अपने विवर्तवाद से शंकर का मात्र आशय यह है कि कार्य की व्यवहार की दृष्टि से उपयोगिता होते हुए भी तत्त्व की दृष्टि से उसमे कोई परिवर्तन नहीं है। कार्य कारण की उपाधि है तथा उसे सीमित करती है। कार्य की अपेक्षा कारण अधिक व्यापक होता है। मिट्टी अथवा स्वर्ण घट अथवा आभूषण की तुलना में अधिक सामान्य तथा व्यापक होता है।

शंकर ने सांख्य के परिणामवाद की तीव्र आलोचना की है। उनके अनुसार सत्-कार्यवादी होने के साथ-साथ परिणामवादी होना सत्-कार्यवाद को ही त्याग देना है। तथा इस प्रकार परिणामवाद भी एक प्रकार का असत्-कार्यवाद ही है। ऐसी अवस्था में परिणामवाद के विरुद्ध भी वे ही सब तर्क दिए जा सकते हैं जो न्याय-वैशेषिक के असत्-कार्यवाद के विरुद्ध दिए गए हैं।

अपने मत का प्रतिपादन करते हुए शकर कहते हैं[1] कि कारण से कार्य अनन्य है क्योंकि कारण के अस्तित्व में ही कार्य उपलब्ध होता है, कारण के अभाव मे नहीं। जैसे, मिट्टी के रहने पर ही घट उपलब्ध होता है अन्यथा नहीं। किन्तु हम देखते हैं कि ऐसा नियम अनन्य वस्तुओं के बीच ही सम्भव है। जहाँ वस्तुओ मे अन्यता है वहाँ यह नियम लागू नही होता। अन्य के रहने पर अन्य की उपलब्धि नियम से नही देखी जाती। घोड़ा गाय से भिन्न है अत घोड़े की उपलब्धि होने पर गाय की उपलब्धि भी अवश्य हो ऐसा फलित नहीं होता।

इस पर यदि यह आपत्ति उठाई जाए कि कई बार अन्य के अस्तित्व मे भी अन्य की उपलब्धि नियम से देखी जाती है, अग्नि तथा धूम इसका उदाहरण है, तो शंकर का कथन है कि यह आपत्ति ठीक नही है। धूम को अलग से घट मे एकत्रित किया जा सकता है तथा अग्नि के बुझ जाने पर भी उसकी उपलब्धि यथावत् रहती है। इस पर यदि यह कहा जाए कि एक विशेष प्रकार का धूम, जिसका अग्नि के अभाव में कभी अस्तित्व सम्भव नहीं है, अग्नि में कार्य रूप मे सम्बन्धित है ऐसा मानने पर भी अग्नि तथा धूम भिन्न-भिन्न पदार्थ रहेंगे तो शकर उत्तर देते हैं कि इससे उनके सिद्धान्त पर कोई असर नहीं पड़ता क्योंकि कार्य-कारण की सत्ता से अनुरक्त बुद्धि ही कार्य-कारण के अनन्यत्व को सिद्ध करती है। अर्थात् जहाँ सम्बन्ध इस प्रकार का हो कि कार्य का ज्ञान कारण के ज्ञान के बिना सम्भव ही न हो वहीं अनन्यत्व होता है अन्यथा नहीं। घट-ज्ञान में मिट्टी-ज्ञान निहित है। जब-जब भी घट-ज्ञान होगा मिट्टी-ज्ञान अवश्य ही होगा। मिट्टी-ज्ञान के बिना घट-ज्ञान असम्भव है अतः इनमें अनन्यत्व

1. ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य 2. 1. 15।

है किन्तु अग्नि-ज्ञान तथा धूम-ज्ञान में इस प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से कारण तथा कार्य का अनन्यत्व सिद्ध होता है। पट का प्रत्यक्ष वास्तव में तन्तु का प्रत्यक्ष ही है।

एक अन्य जगह[1] तर्क करते हुए शंकर कहते हैं कि यदि कारण तथा कार्य घोड़े तथा भैंसे की तरह भिन्न होते तो इसी प्रकार से उनका ज्ञान भी होना चाहिए था, किन्तु चूंकि इस प्रकार उनका ज्ञान नहीं होता अतः कारण तथा कार्य में भेद स्वीकार नहीं किया जा सकता।

आगे शंकर कहते हैं[2] कि कार्य की कारण से नाम-रूप की भिन्नता होती है। किन्तु इस नाम-रूप से तत्त्व रूप कारण में कोई परिवर्तन नहीं आता। स्वर्ण चाहे किसी भी रूप तथा नाम को ग्रहण कर ले उसका स्वर्णत्व इससे अप्रभावित ही रहता है। देवदत्त अपने हाथ-पैर फैला दे अथवा शरीर के समीप समेट ले, इससे देवदत्त में कोई परिवर्तन नहीं आता। वह उसी देवदत्त के रूप में ही पहिचाना जाता है। जिस प्रकार लपेटा हुआ कपड़ा तथा फैलाया हुआ कपड़ा एक-दूसरे से अभिन्न है उसी प्रकार कारण तथा कार्य भी एक-दूसरे से अभिन्न हैं। यह कहा जा सकता है कि मनुष्य एक ही रूप में इसलिए पहिचाना जा सकता है क्योंकि वह मृत्यु के द्वारा अपनी पूर्ववर्ती स्थिति से अलग नहीं होता। मृत्यु हो जाने के बाद भी उसे उसी व्यक्ति के रूप में ही कहा जाता है। परन्तु मिट्टी जब पट रूप में तथा दूध दही रूप में परिवर्तित होती है तब मिट्टी मिट्टी नहीं रहती, दूध दूध नहीं रहता, वे पट तथा दही बन जाते हैं तथा इसी रूप में इसका ज्ञान भी होता है। इस पर शंकर का तर्क है कि ऐसी अवस्थाओं में भी जहाँ पर कि कारण की सत्ता दृष्टिगत नहीं होती, हम यदि पूर्व-स्थितियों पर ध्यान दें तो हमें पता लगेगा कि वे वास्तव में कारण रूप ही हैं। उदाहरण के लिए, वृक्ष जो बीज से उत्पन्न है बीज के साथ दिखलाई नहीं देता। वृक्ष के रूप में विकसित होने पर बीज का नाश हो जाता है ऐसी प्रतीति होती है। किन्तु यदि हम बीज तथा अंकुर पर अपना ध्यान केन्द्रित करें तो हम देखेंगे कि वास्तव में अंकुर बीज रूप ही है। बीज के साथ-साथ मिट्टी, जल आदि और तत्त्व एकत्रित होकर, अंकुर रूप में प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार, अंकुर भी और तत्त्वों से संयोग कर नया-नया रूप धारण करता है। वास्तव में ये कारण तथा कार्य तत्त्व की दृष्टि से अभिन्न हैं। अंकुर की उत्पत्ति बीज का नाश कदापि नहीं है। इस पर भी यदि हम यह कहें कि असद् सद् रूप में उत्पन्न होता है तथा सद् का नाश होकर वह असद् हो जाता है तो यह कथन इसी प्रकार का है जैसे यह कहना कि माता का गर्भस्थ बच्चा तथा उत्पन्न हुआ बच्चा

1. वही 2. 1. 18।
2. वही 2. 1. 18।

भिन्न-भिन्न हैं। अथवा एक ही व्यक्ति के बचपन, युवा तथा वृद्ध रूप वही व्यक्ति नहीं है।

वस्तुतः यह आसानी से देखा जा सकता है कि जिस आधार पर सत्कार्यवाद के द्वारा असत्-कार्यवाद का खण्डन होता है उसी आधार पर परिणामवाद का भी विवर्तवाद के द्वारा खण्डन हो जाता है। यदि कार्य को कारण का विकार अथवा परिणाम मानें तथा यह स्वीकार करें कि कार्य में जिस रूप तथा गुण की उत्पत्ति होती है वे वास्तविक तथा नये हैं तब हम उनसे पूछ सकते हैं कि यह नयी उत्पत्ति कहाँ से हो गई? यह तो सभी को स्वीकार करना होगा कि कारण तथा कार्य की तत्त्व रूप से एकता मानते हुए भी परिणामवादी यह तो मानेंगे ही कि रूप, गुण, आकार, व्यवहार की दृष्टि से वे भिन्नता रखते हैं। यदि यहाँ पर कहा जाए कि ये सब भी पहले कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान थे, उदाहरण के लिए, स्वर्ण में स्वर्ण से निर्मित या निर्मित हो सकने वाली सभी वस्तुओं के गुण, रूप आकार आदि भी अव्यक्त रूप से विद्यमान होते हैं, तब भी कम-से-कम यह तो कहा ही जा सकता है कि यह अभिव्यक्ति अथवा उसका स्थूल या व्यक्त रूप तो नया है। यह अभिव्यक्ति तो निश्चित ही नयी उत्पत्ति स्वीकार करनी होगी। इस प्रकार, हम देखते हैं कि स्पष्टतः या तो हमें परिणाम को सत्य स्वीकार कर नयी उत्पत्ति को स्थान देने मे असत्-कार्यवाद को स्वीकार करना होगा, या फिर इस परिणाम को मिथ्या या प्रतीति रूप में स्वीकार कर विवर्तवाद को अपनाना होगा। इसके बीच में कोई मध्यम मार्ग नहीं है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि जिस प्रकार न्याय-वैशेषिक के आरम्भवाद की तार्किक परिणति बौद्धों के प्रतीत्य समुत्पाद मे होती है, उसी प्रकार सांख्य अथवा रामानुज के परिणामवाद की तार्किक परिणति अद्वैत के विवर्तवाद मे होती है।

नागार्जुन का शून्यवादी मत शंकर के विवर्तवाद के बहुत समीप होते हुए भी इस नाम से नहीं पुकारा जाता। यह सर्व विदित है कि नागार्जुन की विधि निषेधात्मक है। उन्होने अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों के आत्मविरोध तथा तार्किक कठिनाइयों की ओर ही ध्यान आकर्षित किया है तथा किसी भी सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया है। तब भी उनका एक दार्शनिक मत बन तो गया ही है तथा जैसा प्रायः कहा जाता है, यह मत शंकर के विवर्तवाद के बहुत समीप है। अभी तक किसी भी दार्शनिक ने इन दोनों दृष्टिकोणों मे कोई मूल भेद प्रदर्शित नहीं किया है जिससे वे अलग किए जा सकें। जो भेद दर्शाये भी गए हैं वे ऊपरी तथा महत्त्वहीन हैं। उनसे उनके मुख्य सिद्धान्तों में कोई विशेष अन्तर सिद्ध नहीं होता है।

तथापि यह आवश्यक है कि यहाँ पर हम उन तर्कों की ओर दृष्टिपात करें जिनको उन्होंने कार्य-कारण सिद्धान्त के सम्बन्ध मे प्रस्तुत किया है। नागार्जुन न केवल

कारण-कार्य के सम्बन्ध में किसी विशेष मत की आलोचना करते हैं, बल्कि वे परिवर्तन का ही निषेध कर उसे आत्मघाती सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। उनका कहना है कि कारण-कार्य के विषय में तीन मत सम्भव हो सकते हैं प्रथम, शुद्ध सत्कार्यवाद, जिसके अनुसार कारण स्वतः अपने आन्तरिक स्वरूप के कारण ही कार्य रूप में व्यक्त होता है। उसे कार्य रूप में व्यक्त होने के लिए किसी बाह्य अवस्था की आवश्यकता नहीं है। दूसरा इसका नितान्त विरोधी मत है जिसे शुद्ध असत्-कार्यवाद कहा जा सकता है। इसके अनुसार कारण का कार्य रूप में परिवर्तन केवल बाह्य अवस्थाओं पर ही निर्भर है तथा कारण के स्वरूप का इस परिवर्तन में कोई योगदान नहीं होता। तीसरा मत इन दोनों का मध्यम मत है जिसके अनुसार कारण अपने स्वरूप को बाह्य अवस्थाओं से प्रभावित होकर कार्य रूप में व्यक्त करता है।

प्रथम मत के अनुसार वस्तु चूँकि सदैव ही अपने स्वरूप में स्थित रहती है, यह कहने का कोई अर्थ नहीं है कि वह अपने आन्तरिक स्वरूप को कार्य रूप में व्यक्त करता है। यहाँ पर स्थिति केवल यह है कि वस्तु अपने स्वरूप में स्थित है। जैसा भी उसका स्वरूप है, वह है। यहाँ न कुछ कारण हो सकता है और न कार्य। साथ ही चूँकि वस्तु सदैव अपने स्वरूप में ही रह सकती है वह नित्य होगी तथा नित्य वस्तु के अनित्य कार्य अथवा प्रभाव नहीं हो सकते। नित्य वस्तु का कार्य भी नित्य ही होगा तथा इससे कार्य रूप में कोई परिवर्तन जो समय विशेष पर घटना विशेष के रूप में घटित होता है असम्भव हो जायेगा।

इसी प्रकार असत्-कार्यवाद भी असंगत है। कारण-कार्य सम्बन्ध का अर्थ ही यह है कि इन दोनों में कोई सम्बन्ध होना चाहिए। किन्तु यदि कार्य को कारण से पूर्णरूपेण बाह्य मान लिया जाए तो हर वस्तु, हर अन्य वस्तु का कारण कही जा सकती है। तथा किसी भी वस्तु की उत्पत्ति किसी भी वस्तु से सम्भव हो जायेगी। इस कमी को दूर करने के लिए कारण-कार्य में किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध स्वीकार कर सत्-कार्यवाद को मानना होगा जिसका खंडन हम अभी ऊपर कर आए हैं।

यदि इन दोनों मतों के किसी मिश्रित रूप को हम स्वीकार करें तो उसमें इन दोनों ही मतों के दोष आ जायेंगे। अतः यह भी मान्य नहीं हो सकता।

शून्यवादियों का तर्क है कि स्वयं परिवर्तन में तार्किक विरोधाभास है तथा ज्योंही हम परिवर्तन को स्वीकार करते हैं हमें उन तार्किक कठिनाइयों तथा विरोधाभासों का सामना करना पड़ता है। परिवर्तन का विपरीत स्थायित्व है तथा जहाँ परिवर्तन है वहाँ स्थायित्व के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। अतः परिवर्तन को स्थान देने के लिए हमें कारण को स्थायी न मानकर क्षणभंगुर मानना होगा। स्थायित्व में न नाश है और न उत्पत्ति और इसलिए वहाँ न कोई कारण है, न कार्य। किन्तु इस

भंगुरता भी परिवर्तन की व्याख्या नहीं कर पाती। वस्तु क्षणभंगुर होने पर प्रथम का नाश है तो दूसरे की उत्पत्ति तथा इस प्रकार यहाँ भी नाश तथा उत्पत्ति ही है, परिवर्तन नहीं। यह स्पष्ट है कि परिवर्तन में स्थायित्व तथा क्षणभंगुरता दो विरोधी तत्त्वों का समावेश है किन्तु एक ही वस्तु एक ही साथ स्थायी तथा अस्थायी दोनों नहीं हो सकती। यह कहना भी ठीक नहीं होगा कि ऐसी अवस्था में वस्तु आंशिक रूप से स्थायी तथा आंशिक रूप से क्षणभंगुर मानी जा सकती है क्योंकि वस्तु का रूप हम एकत्व से मानें तब ये दोनों अंश दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं के रूप में होंगे तथा यदि इसके विपरीत वस्तु को हम विभिन्न अंशों से बनी हुई मानें तब उसके स्थायी पहलू में स्थिरता होने से न परिवर्तन है और न कारण-कार्य-सम्बन्ध तथा उसके अस्थिर पहलू में नाश तथा उत्पत्ति ही है, परिवर्तन नहीं।

नागार्जुन ने स्वयं यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि गति असम्भव है। किसी भी छोटे से छोटे स्थान के बीच में भी स्थान होना चाहिए जो पहले पार करना होगा तथा यह सबसे छोटा स्थान जो सबसे पहले पार करना होगा कभी भी प्राप्त नहीं होगा। यह तर्क वैसा ही है जो यूनानी दार्शनिक जेना ने इस सन्दर्भ में दिया है। इसकी कार्य-कारण सिद्धान्त में प्रासंगिकता इसलिए है कि कारण तथा कार्य को भी यदि दो भिन्न-भिन्न क्षण मानें तो इससे उनमें निरन्तरता नहीं रहेगी। निरन्तरता को अस्वीकार करने पर प्रश्न उठता है कि वे आखिर किस प्रकार तथा किसके द्वारा एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं? यदि बीच में जोड़ने वाली कोई कड़ी स्वीकार की जाए तो अनवस्था दोष होता है। तथा, यदि जैसा कि प्रायः बौद्ध कहते हैं, यह कहा जाय कि इनके बीच में कोई कड़ी नहीं होती। पूर्व-क्षण के नाश के पश्चात् उत्तर-क्षण उत्पन्न होता है तथा इस प्रकार निरन्तरता मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। तब यह कहने में ही क्या अर्थ है कि वे दो क्षण कार्य-कारण रूप से सम्बन्धित हैं?

इस प्रकार, हम देखते हैं कि भारतीय दर्शन में कार्य-कारण सम्बन्ध की समस्या पर पाँच मत प्रतिपादित किए गए हैं। संक्षेप में उन्हें इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है: (1) असत् सत् रूप में उत्पन्न होता है (न्याय), (2) असत् से असत् उत्पन्न होता है (बौद्ध), (3) सत् से सत् उत्पन्न होता है (सांख्य), (4) सत् से असत् उत्पन्न होता है (अद्वैत वेदान्त) तथा (5) इन चारों मतों से भिन्न जो कार्य-कारण सम्बन्ध का ही निषेध करता है (शून्यवाद)।

इनमें से प्रत्येक दर्शन ने अपने-अपने मत की पुष्टि में तर्क दिए हैं तथा अपने से विरोधी मत के खंडन का प्रयास किया है। इनमें से प्रत्येक तर्क के विषय में यह विचार किया जा सकता है कि उसमें कितना बल है तथा वास्तव में उससे क्या, प्रमाणित अथवा अप्रमाणित होता है। यह सभी अपने में अलग से महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु

यहाँ उन पर विचार करना सम्भव नहीं है। अतः अब संक्षेप में कुछ टिप्पणी के साथ इस समस्या का उपसंहार करना उचित होगा।

प्रथम तो यह ध्यान देने योग्य बात है कि कारण तथा कार्य का क्या स्वरूप है? तथा कारण तथा कार्य के बीच सम्बन्ध, जिसे हम कारणता कह सकते हैं, का क्या स्वरूप है। ये दोनों भिन्न-भिन्न प्रश्न हैं तथा अलग-अलग रूप से इन पर विचार हो सकता है तथा होना चाहिए। वैसे तो दर्शन की प्रत्येक समस्या का प्रत्येक दूसरी समस्या से सम्बन्ध होता है फिर भी बहुत बड़ी सीमा तक दोनों स्वतन्त्र समस्याएँ हैं तथा उनका परस्पर बहुत घनिष्ट सम्बन्ध नहीं है। भारतीय दर्शन में इन दोनों समस्याओं को उलझा दिया गया है तथा इसी से इस समस्या के हल तथा विवाद में बहुत बड़ी भ्रान्ति उत्पन्न हो गई है। इन प्रश्नों को अलग-अलग रूप से सोचने से समस्या पर एक नया प्रकाश पड़ता है तथा भ्रान्ति दूर हो सकती है।

वेदान्त जब यह कहता है कि कार्य असत् है तथा सत् से असत् उत्पन्न होता है तब उनका यही तात्पर्य है कि कार्य के दो पहलू हैं, पहला तत्व तथा दूसरा उसका नाम रूप। वेदान्ती सत् की कसौटी नित्यता अथवा अबाधितता मानते हैं किन्तु नैयायिक सत् की कसौटी हमारा सामान्य अनुभव तथा उपयोगिता को स्वीकार करते हैं। कार्य के नाम रूपात्मक पहलू पर विचार किया जाता है तब दोनों इसको अनित्य, उपयोगी तथा सामान्य अनुभव का मानने पर भी एक उसे सत् तथा दूसरा असत् की सत्ता प्रदान करता है। यह उत्तर-कार्य के स्वरूप को निर्धारित करने के प्रसंग में कितना ही महत्वपूर्ण हो कारणता के स्वरूप पर विचार करते समय विशेष महत्व नहीं रखता। कारणता के स्वरूप पर विचार करते समय कार्य के सत्-असत् होने के सम्बन्ध में मत वैभिन्य होते हुए भी इन दोनों मतों में आश्चर्यजनक समानता मिलेगी। उदाहरणार्थ, नैयायिकों की भांति अद्वैत वेदान्त भी यह मानेगा कि वस्तु में नाम रूप का अभाव है। इस दृष्टि से उन्हें यह मानना पड़ेगा कि यह मिथ्या जगत् कारण में पहले से विद्यमान नहीं था। इस एक अर्थ में दोनों असत् कार्यवादी होंगे। दोनों ही कार्य को अनित्य मानते हैं। दोनों यह स्वीकार करते हैं कि कार्य की उत्पत्ति से कारण की सत्ता तथा उसका स्वरूप अप्रभावित रहता है।

इसी प्रकार, बौद्ध तथा सांख्यमत एक दूसरे के विपरीत प्रतीत होते हैं किन्तु यदि प्रस्तुत अध्याय में प्रतिपादित इस मत को मान लिया जाए कि सांख्य का तार्किक परिणाम वेदान्त है तथा जैसा कि अभी हमने बतलाया, न्याय तथा अद्वैत वेदान्त से मतैक्य है एवं बौद्ध दर्शन न्याय की तार्किक परिणति है तो ये सब विरोध धुंधले होते दृष्टिगोचर होंगे। इस दृष्टि से देखने पर एक नये ही प्रकार का सम्बन्ध हमारे सामने प्रस्तुत होगा जिस पर अभी तक गम्भीर विचार नहीं किया गया है।

□ □ □

अनुक्रमणिका

□ □ □